

भारतीय दर्शन में
आत्मा एवं परमात्मा

डॉ. वीरसागर जैन

भारतीय दर्शन में आत्मा एवं परमात्मा

आत्मा एवं परमात्मा के अस्तित्व, स्वरूप तथा कर्तृत्व-अकर्तृत्व जैसे जटिल विषय को लेकर भारतीय दर्शनों व दार्शनिकों में काफी कुछ समानता के बावजूद मतभेद रहे हैं। जैनाचार्य आत्मा और परमात्मा में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार, आत्मज्ञान की प्राप्ति ही परमात्मस्वरूप को पा जाना है। और फिर, सर्वदुःखों से मुक्ति और स्वाधीन सुख की प्राप्ति ही तो मोक्ष है, जिसका मूल कारण आत्मतत्त्व को जान लेना ही है! अन्य दर्शनों में भी इस विषय पर अपना अपना गम्भीर चिन्तन हुआ है।

प्रस्तुत कृति के विद्वान लेखक ने दर्शनशास्त्र के इस गूढ़ गम्भीर विषय को बहुत ही सरल-सुबोध शैली में युक्तियुक्त ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने सात अध्यायों में भारतीय दर्शन में आत्मविद्या का बीजारोपण करते हुए आत्मा का अस्तित्व, पुनर्जन्म, आत्मा और मुक्तात्मा, सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-बौद्ध-चार्वाक आदि दर्शनों में उसका वैशिष्ट्य, जैन दृष्टि से उनकी तुलना, परमात्म तत्त्व या ईश्वर की अवधारणा, आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से उनकी पुनर्व्याख्या आदि अनेक विषयों को समेट लिया है। साथ ही, अनेक विद्वानों के युक्तिसंगत अभिमतों को उद्धृत करते हुए जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहने/मानने जैसी संकीर्ण भावना का परिहार किया है।

भौतिक समृद्धि की चाह में आज का मानव कहीं अधिक बौद्धिक होता जा रहा है। उसे आत्मदर्शन जैसा विषय अनुपयोगी लगने लगा है। यही कारण है कि वह अपने जीवन में पहले की तुलना में अधिक समस्याओं से ग्रस्त हो गया है। अध्यात्म ही एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से उसे इसका समाधान मिल सकता है।

आशा है, भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के इस महत्वपूर्ण विषय को समझने में यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

ज्ञान गरिमा के

72 वर्ष

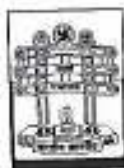


भारतीय
ज्ञानपीठ



भारतीय दर्शन में आत्मा एवं परमात्मा

डॉ. वीरसागर जैन



भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 978-81-263-1786-8

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 43

प्रकाशक :

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : आर.के. ऑफसेट, दिल्ली

आवरण-सज्जा : ज्ञानपीठ कला प्रभाग

© डॉ. वीरसागर जैन

BHARATIYA DARSHAN MEIN
ATMA EVAM PARAMATMA
(Philosophy)

by Dr. Veersagar Jain

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road

New Delhi-110 003

e-mail : jnanpith@satyam.net.in, sales@jnanpith.net

website : www.jnanpith.net

Third Edition : 2018

Price : Rs. 200

आत्मकथन

सभी शास्त्रों में एक स्वर से आत्मज्ञान की प्रबल प्रेरणा दी गयी है। कहा गया है कि जीव के सर्वदुःखों का मूलभूत कारण एक ही है— आत्मभ्रान्ति¹, अतः कैसे भी करके, कोटि उपाय करके भी सर्वप्रथम आत्मज्ञान अवश्य करना चाहिए² जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसने वास्तव में कुछ नहीं जाना, उसे ज्ञानी ही नहीं कहा जा सकता। वह सर्वशास्त्रों का ज्ञाता हो तो भी अज्ञानी है³ और जिसने आत्मा को जान लिया है, वह यदि अन्य कुछ भी नहीं जानता हो, उसे अक्षर-ज्ञान तक भी न हो, तो भी वह ज्ञानी है, सब-कुछ जानता है⁴ अतः एक आत्मा ही जानने योग्य है, आत्मा ही देखने योग्य है और आत्मा ही सदैव अनुभव करने योग्य है। आत्मा को जान लेने से स्वतः ही सब कुछ जान लिया जाता है⁵ आत्मा को जाने बिना वास्तव में अनात्मा को भी सम्यक् रूप से नहीं जाना जा सकता और जो आत्मा व अनात्मा को ही नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?⁶ मिथ्यादृष्टि ही रहेगा और उसका सारा ज्ञान एवं चारित्र भी मिथ्या ही रहेगा, मुक्ति का कारण नहीं बन पाएगा। अतः आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का सर्वप्रथम सोपान है।

इसी प्रकार के और भी अनेक कथन सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में यत्र-तत्र

1. (क) “सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।” — श्रीमद्भागवत, 11/23/60
(ख) “अपनी सुधि भूलि आप आप दुख उपायो।” — दौलत-विलास, पृष्ठ 110
(ग) “भूलि आपको भ्रमत वादि।” — छहढाला, 1/3
2. (क) “अयि कथमपि मृत्वा...” — समयसार-कलश, 23
(ख) “कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनो।” — छहढाला, 4/9
3. (क) “ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।” — समयसार, 201
(ख) “सत्थ पढंतहँ ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति।” — योगसार, 53
4. “जो पस्सदि अप्पाणं... पस्सदि जिणसासणं सव्वं।” — समयसार, 15
5. “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति।” — बृहदारण्यकोपनिषद्, 7/1/3
6. “अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।” — समयसार, 202

बहुशः उपलब्ध होते हैं जिनसे जीवन में आत्मज्ञान की महती उपयोगिता स्पष्ट होती है।

किन्तु यह आत्मज्ञान कैसे प्राप्त हो— यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है। भारतीय दर्शनों और दार्शनिकों में इस विषय में भी प्रचुर मतभेद पाए जाते हैं। जैनाचार्यों ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मज्ञान की एक विधि यह बतलाई है कि यदि यह जीव परमात्मा को भलीभाँति जान ले तो इसे आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है।⁷

प्रश्न है कि परमात्मा को जानने से आत्मा को कैसे जाना जा सकेगा?

उत्तर— क्योंकि परमार्थ से दोनों (आत्मा एवं परमात्मा) समान हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है, अन्तर मात्र ऊपरी ही है।⁸ दूसरी बात— परमात्मा की स्थिति दर्पण के समान है।⁹ जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपना मुख स्वयं नहीं देख सकता, किन्तु यदि वह दर्पण को (में) देखे तो अवश्य ही उसे अपना मुख भी दिखाई दे जाता है। इसी प्रकार परमात्मा को देखने (जानने) से भव्यजीवों को निजात्मा के भी दर्शन (ज्ञान) हो जाते हैं। यही कारण है कि जैनदर्शन में जिनदर्शन/परमात्मदर्शन को निजदर्शन/आत्मदर्शन का हेतु कहकर बड़ा ही महत्त्व दिया गया है।¹⁰

यहाँ पुनः एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा है तो जिस प्रकार दर्पण को देखने से सभी को अवश्यमेव अपना मुख दिखाई दे जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के दर्शन से सभी को आत्मा के दर्शन अवश्यमेव क्यों नहीं होते?

उत्तर— जिस प्रकार विक्षिप्त या भ्रष्ट (अन्यत्रासक्त) चित्त वालों को दर्पण देखने पर भी अपना मुख नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार अज्ञानी जीवों को परमात्मा के दर्शन से भी निजात्मा के दर्शन नहीं हो पाते। किन्तु कहा जा सकता है कि जिन्हें अपना मुख नहीं दिखाई दिया, उन्होंने वास्तव में दर्पण ही नहीं देखा। इसी प्रकार जिन्हें आत्मा का दर्शन/ज्ञान नहीं हुआ, उन्होंने वास्तव में परमात्मा को ही नहीं देखा/जाना।

7. “जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयतेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥” —प्रवचनसार, 80

8. (क) “यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।” —समाधितन्त्र, 31

(ख) “मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥” —आत्मकीर्तन

9. (क) “यद्विद्या दर्पणायते।” —रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 1

(ख) “दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।” —पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 1

(ग) “मुकुर इव भावाश्चिदचिताः।” —महावीराष्टक स्तोत्र, 1

10. (क) “निरखत जिनचन्द्र वदन स्वपद सुरुचि आई।” —दौलत-विलास, पृष्ठ 59

(ख) प्रतिदिन का आवश्यक कर्म माना गया है।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने आत्मज्ञान में परमात्मज्ञान की भूमिका बड़ी ही महत्वपूर्ण मानी है और आत्महिताभिलाषी जीवों को बारम्बार कभी आत्मज्ञान की तो कभी परमात्मज्ञान की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। जैनाचार्यों के अनुसार आत्मा और परमात्मा— ये दोनों विषय परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध भी हैं, अतः इन दोनों के सम्बन्ध में मिथ्याज्ञान का नाश और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति एक साथ ही होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि आत्मज्ञान तो हो जाए और परमात्मज्ञान न हो अथवा परमात्मज्ञान तो हो जाए और आत्मज्ञान न हो। एक का ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान भी हो ही जाता है। इतना ही नहीं, आत्मा या परमात्मा में से किसी एक का भी स्वरूप समीचीनतया समझ में आने पर जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष— इन सातों ही प्रयोजनभूत तत्त्वों का स्वरूप समीचीनतया समझ में आ जाता है और आत्मा में सहज ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ भी प्रस्फुटित हो जाता है। उसे सर्वदुःखों से मुक्त होने की अथवा स्वाधीन सुख प्राप्त करने की सम्पूर्ण विधि समझ में आ जाती है। एक अपेक्षा से वह मुक्त ही हो जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में तो आत्मा एवं परमात्मा के ज्ञान को सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान और मोक्षमार्ग का मूलाधार माना ही गया है, अन्य सभी दर्शनों में भी इस विषय को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानकर यत्र-तत्र विस्तारपूर्वक समझाया गया है। सभी दर्शनों के आचार्यों ने इस विषय पर अपना-अपना गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है।

जो भी हो, मुझे तो आत्मा एवं परमात्मा सभी दर्शनों के सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य प्रतीत हुए और जीवन के लिए अत्यधिक उपयोगी या प्रयोजनभूत भी प्रतीत हुए, इसीलिए प्रस्तुत कृति के लेखन का उपक्रम किया है। यदि इसके अध्ययन से कुछ लोगों को भी आत्मा-परमात्मा जैसे महत्वपूर्ण विषय को समझने में कुछ सहायता मिली अथवा इस विषय को गम्भीरतापूर्वक समझने की प्रेरणा ही मिली तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा; क्योंकि मेरे हृदय में इस बात की बड़ी पीड़ा रहती है कि आधुनिक युग में— जो कि अत्यधिक समृद्ध एवं बौद्धिक होता जा रहा है— लोग इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय की येन-केन व्याजेन उपेक्षा करने लगे हैं। बहुत-से लोगों को तो यह विषय अप्रयोजनभूत या अनुपयोगी—सा ही प्रतीत होने लगा है। जबकि यह विषय दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। इसके समीचीन ज्ञान से व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन की भी अनेक समस्याएँ सहज ही समाप्त हो जाती हैं और उसमें अनेक उत्तम गुण प्रकट हो जाते हैं। मुझे तो लगता है कि आधुनिक युग की लगभग सभी बाह्याभ्यन्तर समस्याओं का एक प्रमुख कारण इस विषय के समीचीन ज्ञान का अभाव ही है। अतः, इस कृति के निर्माण में मुझे स्वयं तो महान लाभ हुआ ही है। ठीक भी है,

भारतीय संस्कृति में तो स्वान्तःसुखाय ही ग्रन्थ-रचना की परम्परा रही है।¹¹

इस कृति में सात अध्यायों में आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप को सरल-सुबोध ढंग से किन्तु सयुक्तिक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यद्यपि इस विषय पर सामग्री बहुत अधिक मिलती है, किन्तु मैंने सारग्राही शैली में बिन्दुशः (To the point) ही कुछ कहने का प्रयास किया है। आशा है आज की नई पीढ़ी को इसकी यह शैली पसन्द आएगी और इससे दर्शनशास्त्र का यह गूढ़-गम्भीर विषय भी सरलतया समझ में आ सकेगा। विज्ञानप्रेमी व्यक्तियों के अनुरोध से इस विषय को एक अध्याय में आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी समझने का प्रयत्न किया गया है।

पुस्तक के अन्त में चार परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में सभी भारतीय दर्शनों का प्राथमिक परिचय एक सारिणी द्वारा कराया है। द्वितीय परिशिष्ट में कतिपय महत्वपूर्ण आध्यात्मिक सूक्तियों का संग्रह है। यद्यपि भारतीय वाङ्मय में एक से बढ़कर एक अनमोल आध्यात्मिक सूक्तियों का भण्डार भरा हुआ है, उनमें से कतिपय को छाँटना सरल कार्य नहीं है, न्यायसंगत भी नहीं प्रतीत होता, किन्तु अमृत तो एक बूँद भी कल्याणकारी ही सिद्ध होता है¹²— इस भावना से कतिपय सूक्तियों का संग्रह कर लिया है। विद्वज्जन अन्यथा ग्रहण न करें। तृतीय परिशिष्ट में जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहने-मानने की संकीर्ण भावना को कतिपय विद्वानों के युक्तिसंगत अभिमतों द्वारा मिथ्या सिद्ध किया है। अन्तिम परिशिष्ट में सन्दर्भ-ग्रन्थों की वर्णक्रमानुसार सूची प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार मेरी यह कृति भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति के एक महानतम विषय पर आधुनिक भाषा-शैली में किया गया एक लघुतम प्रयास है। यदि इसमें कहीं भी कुछ स्खलन हुआ हो तो मैं विद्वज्जनों से हार्दिक क्षमायाचना करता हूँ और यह भी निवेदन करता हूँ कि वे ऐसे स्थलों की ओर मेरा ध्यान अवश्य आकर्षित करें, ताकि आगामी संस्करण में उन्हें कृतज्ञतापूर्वक ठीक किया जा सके।

प्रस्तुत कृति के लेखन में मुझे अपने विद्यापीठ के ग्रन्थालय और दर्शन-संकाय के प्रायः सभी आचार्यों का बड़ा सहयोग मिला है। मैं सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ तथा इस कृति के प्रकाशन हेतु देश के ख्यातिप्राप्त संस्थान भारतीय ज्ञानपीठ के प्रति भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

—वीरसागर जैन

11. (क) "णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।" —नियमसार, 187

(ख) "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।" —रामचरितमानस, 1/7

12. "पीयूषं न हि निःशेषं पिबन्नेव सुखायते।" —क्षत्रचूडामणि, 1/2

अनुक्रम

1. भारतवर्ष और अध्यात्मविद्या	11-30
- भरत का भारत	13
- भारत में अध्यात्मविद्या की प्रधानता	25
2. आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म की सिद्धि	31-50
- आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि	33
- पूर्वजन्म-पुनर्जन्म-सिद्धि	42
3. आत्मा का स्वरूप : जैन दर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में	51-88
- जैन दर्शन का केन्द्रिय प्रतिपाद्य : आत्मा	53
- आत्मा का स्वरूप	57
(आत्मा के पर्यायवाची शब्द, जीव और आत्मा में अन्तर, आत्मा का स्वरूप, आत्मा के नौ विशेष गुण)	
- आत्मा के भेद-प्रभेद	71
- आत्मा की अनुभूति और उसका उपाय	78
- मुक्तावस्था में आत्मा का स्वरूप	84
4. अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप	89-132
- सांख्य दर्शन में आत्मा का स्वरूप	91
- योग दर्शन में आत्मा का स्वरूप	96
- न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा का स्वरूप	101
- मीमांसा दर्शन में आत्मा का स्वरूप	107
- वेदान्त दर्शन में आत्मा का स्वरूप	111
(अद्वैत वेदान्त एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में आत्मा)	
- चार्वाक दर्शन में आत्मा का स्वरूप	120
- बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वरूप	122
5. भारतीय दर्शनों में आत्मा : तुलनात्मक अध्ययन	133-152
- सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा-विषयक समानताएँ	135
- सांख्य-योग दर्शन और जैन दर्शन	136

- न्याय-वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन	137
- मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन	138
- अद्वैतवेदान्त दर्शन और जैन दर्शन	139
- विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन	141
- बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन	143
- चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन	144
- आत्मा-सम्बन्धी विविध वाद और उनकी समीक्षा (भूतात्मवाद, भूतचैतन्यवाद, देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, प्राणात्मवाद, अव्याकृतवाद, अनात्मवाद, नैरात्म्यवाद, पंचस्कन्धवाद, क्षणिकात्मवाद, विभु-आत्मवाद, अणु-आत्मवाद, एकात्मवाद, ब्रह्मांशवाद, ज्ञानशून्यवाद, अकर्तावाद)	146
6. भारतीय दर्शनों में परमात्मा या ईश्वर की अवधारणा	153-210
- जैन दर्शन में परमात्मा का स्वरूप	155
- अन्य भारतीय दर्शनों में परमात्मा या ईश्वर (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, चार्वाक)	175
- ईश्वर-कर्तृत्व का निराकरण	189
7. आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा	211-230
- दर्शन और विज्ञान	213
- आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा	218
- परमात्मा का स्वरूप	228
परिशिष्ट	
(क) भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (सारिणी)	231
(ख) आध्यात्मिक सूक्तियाँ	231
(ग) जैन दर्शन नास्तिक नहीं है	238
(घ) सन्दर्भ-ग्रन्थ	242

भारतवर्ष और अध्यात्मविद्या

भरत का भारत

हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' है। 'भारतवर्ष' का अर्थ होता है— भरत का क्षेत्र या देश। स्पष्ट है कि हमारे देश का नाम किसी 'भरत' नामक महापुरुष के नाम पर रखा गया है और इसीलिए 'भारत' है। किन्तु विचारणीय है कि ये भरत कौन थे और क्यों इनके नाम पर हमारे देश का नाम 'भारत' रखा गया है। आश्चर्य की बात है कि आज इस सम्बन्ध में भारतवर्ष के ही बहुत लोगों को समीचीन जानकारी नहीं है, जबकि प्रत्येक भारतीय को इसकी समीचीन जानकारी अवश्य होनी चाहिए थी। न केवल जानकारी होनी चाहिए थी, अपितु उन भरत के आदर्शों पर भी सबको चलना चाहिए था।

हमारे देश के इतिहास में तीन भरत अधिक प्रसिद्ध हुए हैं—

1. राम का भाई भरत,
2. दुष्यन्त-शकुन्तला का पुत्र भरत और
3. ऋषभदेव-पुत्र चक्रवर्ती भरत।

यद्यपि उक्त तीनों ही भरत शूरवीर, पराक्रमी और हमारे देश की जनता को अत्यधिक प्रभावित करने वाले महापुरुष हुये हैं, अतः कुछ लोगों को (कभी-कभी विद्वानों तक को) यह भ्रम/संशय हो जाता है कि उक्त तीनों में से किस भरत के नाम पर हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' रखा गया है।

किन्तु स्थिति एकदम साफ है। सभी पुराण-इतिहास-ग्रन्थों से यह सुतरा से सिद्ध होता है कि ऋषभ-पुत्र 'भरत' के ही नाम पर हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' रखा गया है तथा उससे पहले इस देश को उनके पिता 'नाभिराय' के नाम पर 'नाभिखण्ड' या 'अजनाभवर्ष' कहा जाता था।

प्रमाणस्वरूप 'अग्निपुराण' का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है—

“जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्।
नाधमं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः ॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
ऋषभो दत्तश्रीः पुत्रे शाल्यग्रामे हरिगतः ॥
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ॥”¹

अर्थात् उस हिमवत् प्रदेश में जरा और मृत्यु का भय नहीं था, धर्म और अधर्म भी नहीं थे, सर्वत्र मध्यम भाव—समभाव था। वहाँ 'नाभिराजा' की पत्नी 'मरुदेवी' से 'ऋषभ' का जन्म हुआ। ऋषभ से 'भरत' हुए। ऋषभ ने भरत को राज्यश्री प्रदान कर संन्यास ले लिया। तब भरत से ही इस देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ।

इसी प्रकार का अभिप्राय अन्य भी प्रायः सभी जैन एवं वैदिक पुराण-ग्रन्थों में अनेकशः व्यक्त किया गया है। यहाँ विस्तारभय से सभी को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, किन्तु कतिपय प्रमुख उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं, ताकि निर्भ्रान्त रूप से यह ज्ञात हो सके कि हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' ऋषभ-पुत्र भरत के ही नाम पर पड़ा है, किसी अन्य भरत के नाम पर नहीं। यथा—

1. 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार—

“अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति।”²

अर्थात् 'अजनाभवर्ष' ही आगे चलकर 'भारतवर्ष'— इस संज्ञा से अभिहित हुआ।

अथवा—

“येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥”³

श्रेष्ठ गुणों के आश्रयभूत, महायोगी भरत अपने सौ भाइयों में श्रेष्ठ

1. अग्निपुराण, 107/9-10-11

2. श्रीमद्भागवत, 5/7/3

3. श्रीमद्भागवत, 5/4/9

14 :: भारतीय दर्शनों में आत्मा एवं परमात्मा

थे, उन्हीं के नाम पर इस देश को 'भारतवर्ष' कहते हैं।

2. 'मार्कण्डेयपुराण' के अनुसार—

“आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राज्ञाज्यमास्थितः ।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥”⁴

अग्नीध्र-पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए। उनसे भरत का जन्म हुआ, जो अपने सौ भाइयों में अग्रज था। महाभाग्यशाली ऋषभ ने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की और 'पुलह' आश्रम में तप किया। ऋषभ ने भरत को 'हिमवत' नामक दक्षिण-प्रदेश शासन के लिए दिया था। उस महात्मा 'भरत' के नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ।

3. 'ब्रह्माण्डपुराण' के अनुसार—

“नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्रव्रज्या स्थितः ॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥”⁵

नाभि ने मरुदेवी से महाद्युतिवान् 'ऋषभ' नाम के पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव 'पार्थिव श्रेष्ठ' और 'सब क्षत्रियों के पूर्वज' थे। उनके सौ पुत्रों में वीर 'भरत' अग्रज थे। ऋषभ ने उनका राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होंने भरत को 'हिमवत्' नाम का दक्षिणी भाग राज्य करने के लिए दिया था और वह प्रदेश आगे चलकर भरत के नाम पर ही 'भारतवर्ष' कहलाया।

4. मार्कण्डेयपुराण, 50/39-42

5. ब्रह्माण्डपुराण, पूर्व 2/14

4. 'स्कन्दपुराण' के अनुसार—

“नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥”¹⁶

नाभि का पुत्र ऋषभ हुआ, ऋषभ से भरत हुआ। उसी भरत के नाम से यह देश 'भारत' कहा जाता है।

5. 'लिंगपुराण' के अनुसार—

“नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षेत्र-सुपूजितम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ॥
ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रिय-महोरगान् ।
सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ॥
नग्नो जटी निराहारोऽचीवरो ध्वान्तगतो हि सः ।
निराशस्त्यक्तसन्देहः शैवमाप परं पदम् ॥
हिमात्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं सत्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥”

महामति नाभि को मरुदेवी नाम की धर्मपत्नी से 'ऋषभ' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह ऋषभ नृपतियों में उत्तम था और सम्पूर्ण क्षत्रियों द्वारा सुपूजित था। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई, जो अपने सौ भ्राताओं में अग्रजन्मा था। पुत्र-वत्सल ऋषभदेव ने भरत को राज्यपद अभिषिक्त किया और स्वयं ज्ञान-वैराग्य को धारण कर, इन्द्रियरूपी महान् सर्पों को जीत सर्वभाव से ईश्वर परमात्मा को अपनी आत्मा में स्थापित कर तपश्चर्या में लग गये। वे उस समय नग्न थे, जटायुक्त, निराहार, वस्त्ररहित तथा मलिन थे। उन्होंने सब आशाओं का त्याग कर दिया था, सन्देह का परित्याग कर परमशिवपद को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने हिमवान् के दक्षिण भाग को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान् इसे 'भारतवर्ष' कहते हैं।

6. स्कन्दपुराण, कौमारखंड, 37/57

7. लिंगपुराण, 47/19-23

16 :: भारतीय दर्शनों में आत्मा एवं परमात्मा

6. 'वायुपुराण' के अनुसार—

“नाभिस्त्वजन्यत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्रात्राज्यमास्थितः ॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥”⁸

नाभि के मरुदेवी से महाद्युतिवान 'ऋषभ' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह 'ऋषभ' नृपतियों में उत्तम था और सम्पूर्ण क्षत्रियों द्वारा पूजित था। ऋषभ से 'भरत' की उत्पत्ति हुई जो सौ पुत्रों से अग्रज था। उस 'भरत' को राज्यपद पर अभिषिक्त कर ऋषभ स्वयं प्रव्रज्या में स्थित हो गये। उन्होंने हिमवान् के दक्षिण भाग को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान् इसे 'भारतवर्ष' कहते हैं।

7. 'नारदपुराण' के अनुसार—

“आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते ॥
स राजा प्राप्तराज्यस्तु पितृपैतामहं क्रमात् ।
पालयामास धर्मेण पितृवद्रंजयन् प्रजाः ॥”⁹

पूर्व समय में मुनियों में श्रेष्ठ 'भरत' नाम के राजा थे। वे ऋषभदेव के पुत्र थे। उन्हीं के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' कहा जाता है। उस राजा भरत ने राज्य प्राप्त कर अपने पिता-पितामह की तरह से ही धर्मपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण किया था।

8. 'शिवपुराण' के अनुसार—

“नाभेः पुत्रश्च वृषभो वृषभात् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥”¹⁰

नाभि के पुत्र 'वृषभ' और वृषभ के पुत्र 'भरत' हुए। उन्हीं भरत

8. वायुपुराण, पूर्वार्ध, 33/50-52
9. नारदपुराण, पूर्वखण्ड, 48/5-6
10. शिवपुराण 37/57

के नाम से इस वर्ष (देश) को 'भारतवर्ष' कहते हैं।

9. 'वराहपुराण' के अनुसार—

“नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः
पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः
हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास।”¹¹

10. 'कूर्मपुराण' के अनुसार—

“हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः॥”¹²

11. 'विष्णुपुराण' के अनुसार—

“न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः॥”¹³

12. 'सूरसागर' में भी लिखा है -

“बहुरो रिषभ बड़े जब भये, नाभि राज दे वन को गये।
रिषभ-राज परजा सुख पायो, जस ताको सब जग में छायो॥
X X X
रिषभदेव जब बन को गये, नवसुत नवौ खण्ड-नृप भये।
भरत सो भरत-खण्ड को राव, करे सदा ही धर्म अरु न्याव॥”¹⁴

वैदिक ग्रन्थों की भाँति जैन-परम्परा के कतिपय प्रमुख ग्रन्थों के अनुसार भी इस देश का नाम ऋषभ-पुत्र भरत के ही नाम पर 'भारत' पड़ा है। यथा—

11. वराहपुराण, अध्याय 74

12. कूर्मपुराण, पूर्वविभाग, अध्याय 38/34-35

13. विष्णुपुराण, द्वितीयांश, 1/27-28

14. सूरसागर, पंचम स्कन्ध, पद 284-85

1. 'वसुदेवहिण्डी' के अनुसार—

“इहं सुरासुरिद्विद्वंदिय-चलणारविंदो उसभो नाम पढमो राया जगप्पियामहो आसी। तस्य पुत्तसयं। दुवे पहाणा भरहो बाहुबली य। उसभसिरी पुत्तसयस्य पुरसयं च दाऊण पव्वइयो। तत्थ भरहो भरहवासचूडामणि, तस्सेव णामेणं इहं भरहवासं ति पवुच्चंति।”¹⁵

यहाँ जगत्पिता ऋषभदेव प्रथम राजा हुए। सुर और असुर दोनों ही के इन्द्र उनके चरण-कमलों की वन्दना करते थे। उनके सौ पुत्र थे। उनमें दो प्रमुख थे— भरत और बाहुबली। ऋषभदेव शतपुत्र-ज्येष्ठ को राज्यश्री सौंपकर प्रव्रजित हो गये। भारतवर्ष का चूड़ामणि भरत हुआ। उसी के नाम से इस देश को 'भारतवर्ष' ऐसा कहते हैं।

2. 'तत्त्वार्थवार्तिक' के अनुसार—

“भरतक्षत्रिययोगाद्वर्षो भरतः ॥1॥ विजयार्थस्य दक्षिणतो जलधेरुत्तरतः गंगासिन्धुवोर्बहुमध्यदेशभागे विनीता नाम नगरी द्वादशयोजनायामा नवयोजनविस्तारा। तस्यामुत्पन्नः सर्वराजलक्षणसम्पन्नो भरतो नामाद्यश्चक्रधरः षट्खण्डाधिपतिः। अवसर्पिण्या राज्यविभागकाले तेनादौ भुक्तत्वात् तद्योगाद् भरत इत्याख्यायते वर्षः।”¹⁶

सारांश यह है कि भरत क्षत्रिय के योग से यह क्षेत्र भरत कहलाता है। अयोध्या नाम की नगरी में सर्वराजलक्षण से सम्पन्न भरत नाम के चक्रवर्ती छह खण्ड के अधिपति हुए हैं, जिन्होंने इसे सर्वप्रथम भोगा है, अतः इस क्षेत्र को 'भरतवर्ष'— ऐसा कहते हैं।

3. आचार्य जिनसेन कृत 'महापुराण' के अनुसार—

“ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सनुमग्रिमम्।

भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिदम् ॥”¹⁷

इसके पश्चात् भगवान् ऋषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का साम्राज्याभिषेक किया तथा प्रदेश 'भारतवर्ष' हो— ऐसी घोषणा की। उन्होंने 'भारतवर्ष' को सनाथ किया।

15. संघदास गणी, वसुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 186

16. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक 3/10/1

17. आचार्य जिनसेन, महापुराण, 17/76

“प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा ।
तमाह्वद् भरतं भावि समस्तभरताधिपम् ॥
तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदम् ।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥”¹⁸

समस्त भरतक्षेत्र के उस भावी अधिपति को आनन्द की अतिशयता से स्नेह करनेवाले बन्धु-समूह ने ‘भरत’— ऐसा कहकर सम्बोधन दिया, पुकारा। उस ‘भरत’ के नाम से हिमालय से समुद्र-पर्यन्त यह चक्रवर्तियों का क्षेत्र ‘भारतवर्ष’ के नाम से लोक में प्रतिष्ठित हुआ।

4. ‘पुरुदेवचम्पू’ के अनुसार—

“तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदम् ।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥”¹⁹

उसके नाम से (भरत के नाम से) यह देश ‘भारतवर्ष’ प्रसिद्ध हुआ— ऐसा इतिहास है। हिमवान् कुलाचल से लेकर लवणसमुद्र तक का यह क्षेत्र ‘चक्रवर्तियों का क्षेत्र’ कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋषभ-पुत्र भरत के ही नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है, तथापि कुछ लोग अज्ञानादिवश कभी राम के भाई भरत को और कभी दुष्यन्त-पुत्र भरत को ‘भारत’ नामकरण का आधार बता देते हैं, किन्तु यह सत्य नहीं है।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी एक बार दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर ‘भारत’ के नामकरण की बात लिखी थी, किन्तु बाद में उन्होंने सार्वजनिक रूप से अपनी भूल को सुधारते हुए स्पष्ट लिखा कि— “मैंने अपनी ‘भारत की मौलिक एकता’ नामक पुस्तक (पृष्ठ 22-24) में दौष्यन्तिक भरत से भारतवर्ष लिखकर भूल की थी। इसकी ओर मेरा ध्यान कुछ मित्रों ने आकर्षित किया। उसे अब सुधार लेना चाहिए।”²⁰

इतना ही नहीं, इसके बाद एक अन्य कृति की भूमिका में भी उन्होंने

18. आचार्य जिनसेन, महापुराण, 15/158-159

19. महाकवि अर्हद्दास, पुरुदेवचम्पू 6/32

20. डॉ. प्रेमसागर जैन, भरत और भारत, कवर पृष्ठ II

एक बार पुनः जोर देकर लिखा कि—

“स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि ‘अजनाभ’ भी कहलाते थे जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश ‘अजनाभवर्ष’ कहलाता था। यही ‘अजनाभखण्ड’ पीछे ‘भरतखण्ड’ कहलाया। नाभि के पौत्र भरत उनसे भी अधिक प्रतापवान् चक्रवर्ती थे। यह अत्यन्त मूल्यवान् ऐतिहासिक परम्परा किसी प्रकार पुराणों में सुरक्षित रह गई है।”²¹

इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि ऋषभ-पुत्र भरत के ही नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। दरअसल राम के भाई भरत तो कभी स्वयं राजगद्दी पर बैठे ही नहीं थे। अतः उनके नाम पर हमारे देश का नाम पड़ना सम्भव नहीं है और दुष्यन्त-पुत्र भरत भी कालिदास के ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ की विश्वव्यापी ख्याति से ही विख्यात हुए हैं जो बहुत परवर्ती हैं, जैसा कि डॉ. प्रेमसागर जैन ने स्पष्ट लिखा है—

“राम के भाई भरत कभी राजसिंहासन पर नहीं बैठे, अतः उनके आधार पर इस देश के नामकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। कतिपय विद्वानों ने दौष्यन्ति भरत के नाम को मूलाधार स्वीकार किया है। यह स्वाभाविक था। कालिदास के ‘शाकुन्तलम्’ की विश्वव्यापी ख्याति ने दौष्यन्ति भरत को जन-मानस में प्रतिष्ठित कर दिया। उसी को लोग इस देश के ‘भारत’ नाम का मूलमन्त्र मान बैठे।”²²

दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर ‘भारत’ नामकरण बताने की भूल अनेक विद्वानों से हुई है और अनुकरण-नियम से होती चली जा रही है।

यह भूल वास्तव में सर्वप्रथम ऋग्वेद-संहिता का भाष्य लिखते हुए सायणाचार्य से ही हो गई थी जब उन्होंने ‘भरत’ शब्द की व्याख्या ‘दौष्यन्तिक भरत’ लिखकर कर दी थी—

21. डॉ. प्रेमसागर जैन, भरत और भारत, पृष्ठ 18

22. डॉ. प्रेमसागर जैन, भरत और भारत, पृष्ठ 9

“हे अग्नेय! त्वां भरतो दौष्यन्तिरेतत्संज्ञको राजा वाजिभिर्वाजो हविलक्ष्णमने तद्वद्भिः ऋत्विग्भिः सह द्विता- इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहार-द्विविधरूपेण शुनं सुखमुदिदश्य ईडे स्तुतवान्।”²³

बाद में अनेक लोग उसी का अनुकरण करते चले गए, किन्तु हमारा प्राचीन साहित्य इस कथन का समर्थन नहीं करता। अपितु अत्यन्त स्पष्ट कहता है कि ऋषभ-पुत्र भरत के ही नाम पर हमारे देश का नाम ‘भारतवर्ष’ पड़ा है जैसा कि हम उपरि-उद्धृत पुराण-ग्रन्थों के अनेक कथनों में देख चुके हैं। अतः विद्वानों का यह कर्तव्य है कि आज यह भूल सुधारी जाए और सत्य सभी के सामने प्रस्तुत किया जाए।

अब ज्ञातव्य है कि इन ऋषभ-पुत्र भरत का जीवनवृत्त और व्यक्तित्व कैसा था और क्यों इनके नाम पर हमारे देश का नामकरण किया गया है।

ऋषभ-पुत्र भरत के सम्बन्ध में हम इतना तो उक्त उद्धरणों से जान ही चुके हैं कि इस पवित्र भारतभूमि पर जो पहले ‘हिमवत् प्रदेश’ कहलाती थी, बाद में ‘नाभिखण्ड’ या ‘अजनाभवर्ष’ कहलाती थी और आज ‘भारतवर्ष’ कहलाती है, असंख्य वर्ष पूर्व एक महान् प्रतापी राजा नाभिराय हुए जिन्हें अन्तिम मनु या कुलकर भी कहा जाता था। उनकी महारानी का नाम मरुदेवी था। उनके एक ‘वृषभ’ या ‘ऋषभ’ नाम का पुत्र हुआ जिसकी चर्चा वेदों और पुराणों में भी, विपुलता से विष्णु के अवतार मानकर की गई है। ये ही ऋषभदेव आगे चलकर सम्पूर्ण राज्य का त्याग कर मुनि हो गए और इस युग में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हुए।

गृहस्थावस्था में इनकी दो पत्नियाँ थीं— नन्दा और सुनन्दा। इन दोनों के कुल 101 पुत्र और ब्राह्मी व सुन्दरी नामक दो पुत्रियाँ हुईं। पुत्रों में भरत और बाहुबली विशेष विख्यात हुए। भरत और बाहुबली में भी भरत ज्येष्ठ थे और ऋषभदेव के बाद उन्हें ही राजा बनाया गया था। ये ही भरत आगे चलकर सम्पूर्ण षट्खण्ड वसुधा पर विजय प्राप्त कर ‘चक्रवर्ती भरत’ कहलाए और उन्हीं के नाम पर हमारे देश का नाम ‘भारतवर्ष’ रखा गया।

23. ऋग्वेद 6/16/4 का सायणभाष्य (पूना संस्करण, भाग 3)

ऋषभदेव का चरित्र तो वेदों और सभी हिन्दू-जैन पुराणों में भी विस्तारपूर्वक मिल जाता है, किन्तु इन चक्रवर्ती भरत का विस्तृत जीवन-परिचय जानने के लिए हमें महाकवि रत्नाकर कृत भरतेश वैभव²⁴, आचार्य जिनसेन कृत महापुराण²⁵ आदि जैन ग्रन्थों का अवलोकन करना आवश्यक है।

उक्त ग्रन्थों में वर्णित भरत-चरित्र के अनुसार ये ऋषभ-पुत्र भरत इस सम्पूर्ण वसुधा के एकच्छत्र सम्राट थे और 'चक्रवर्ती' कहलाते थे। इनके पास अपरम्पार सम्पदा थी जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। किन्तु इनके व्यक्तित्व की सबसे खास विशेषता यह थी कि वे उस अपरम्पार वैभव-सम्पदा के बीच भी सदैव जल में कमल की भाँति निर्लिप्त और अपने आत्मिक आनन्द में ही निमग्न रहते थे। जीवन में आनेवाले संयोग-वियोग, जीवन-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि सर्वविध प्रसंगों में हर्ष-विषाद रहित समताभाव धारण किए रहते थे। ज्ञान-वैराग्य और आध्यात्मिक दृष्टि के कारण जीवन का कोई भी प्रसंग उनके अन्तस्तल को व्यग्र या आन्दोलित नहीं कर पाता था। वे सदैव स्वयं को सर्व शरीरादि भावों से भिन्न चैतन्यमय आत्मतत्त्व अनुभव करते थे।

हम समझते हैं कि भरत चक्रवर्ती के इसी महान गुण के कारण हमारे प्रबुद्ध पूर्वजों ने हमारे देश का नाम उनके नाम पर 'भारत' रखा है। वे हमें इस माध्यम से आध्यात्मिक जीवन-यापन का महान् सन्देश देना चाहते थे। भरत चक्रवर्ती के ज्ञान-वैराग्यमय आध्यात्मिक जीवन का चित्रण करने वाला एक निम्नलिखित पद इस सन्दर्भ में ध्यानपूर्वक पठनीय है—

“भरत जी घर ही में वैरागी, वे तो अन-धन सबके त्यागी॥
कोड अठारह तुरंग हैं जाके, कोड चौरासी सागी॥
लाख चौरासी गजरथ सोहैं, तो भी भए नहीं रागी॥
तीन कोड दो हलधर सोहैं, एक कोड हल साजे॥
नव निधि रतन चौदह घर जाके, मन वांछा सब भागी॥
चार कोड गण नाज उठे नित, लोण लाख दश लागे॥

24. प्रकाशक— धर्मवीर जैन ग्रन्थमाला, कल्याण भवन, सोलापुर

25. प्रकाशक— भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली

कोड थाल कंचन मणि सोहै, नाहि भया कोई रागी॥
 ज्यों जल बीच कमल अन्तःपुर, नाहि भये वे रागी।
 भवि जन होय सोई उर धारो, सोई पुरुष बड़भागी॥²⁶

यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि ऋषभदेव तो भरत से भी बहुत महान् थे, उनके पिता भी थे और तीर्थंकर भी थे, फिर उनके नाम पर हमारे देश का नाम क्यों नहीं रखा? भरत के ही नाम पर क्यों रखा?

उत्तर— हमारे पूर्वज आध्यात्मिक जीवन-यापन का सन्देश अत्यधिक व्यावहारिक रूप में ही देना चाहते थे ताकि जनसामान्य भी उस पर आसानी से चल सके। इसके लिए भरत ही अधिक उपयुक्त थे, ऋषभदेव नहीं। ऋषभदेव तो बहुत महान् थे, तीर्थंकर थे; अतः कोई भी कह सकता था कि उनकी क्या बात, हम उनकी बराबरी कैसे कर सकते हैं; किन्तु भरत साधारण गृहस्थ थे, एक सामान्य श्रावक ही थे, कोई मुनि नहीं।

दूसरी बात ऋषभदेव मात्र अयोध्या के राजा थे, सम्पूर्ण भरतखण्ड के नहीं। भरत ही सम्पूर्ण भरतखण्ड के विजेता थे। इतने अधिक वैभव के बीच भी आध्यात्मिक जीवन-यापन किया जा सकता है— यह सन्देश भरत के ही जीवन से अधिक प्रभावी रूप में अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने हमारे देश का नाम ऋषभदेव के भी नाम पर न रखकर भरत के ही नाम पर रखना अधिक उचित समझा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भारत' नाम में ही आध्यात्मिकता भरी हुई है और इसीलिए प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह आध्यात्मविद्या अवश्य प्राप्त करे, अन्यथा उसे सही अर्थों में 'भारतीय' कहना सम्भव नहीं होगा।

26. अनेक हिन्दी-जैन-पद-संग्रहों में उपलब्ध प्रसिद्ध पद।

भारत में अध्यात्मविद्या की प्रधानता

भारतवर्ष सदा से ही एक आध्यात्मिक देश रहा है। यहाँ तिल में तेल की भाँति जीवन के हर प्रसंग में अध्यात्म ही रचा-पचा रहता है। अध्यात्म को ही यहाँ सदैव सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। कहते हैं कि यहाँ का कंकर-कंकर शंकर है, उसका भी असली अभिप्राय यही है कि यहाँ की हर बात अध्यात्म के पवित्र रंग में रंगी हुई होती है। यहाँ विश्व की भौतिक वस्तु को चाहे वह चिन्तामणि, कल्पवृक्ष या पारस पत्थर ही क्यों न हो, इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता जितना कि अध्यात्मविद्या को दिया जाता है। यहाँ तो अध्यात्मविद्या के सामने सभी वस्तुओं को तुच्छ या निर्मूल्य ही समझा जाता है।²⁷

वस्तुएँ तो दूर रहो, ज्ञान-विज्ञान की भी वे बातें जो अध्यात्मविद्या से रहित हैं, यहाँ उपादेय नहीं समझी जातीं।²⁸ वे भी वहीं तक प्रशंसनीय और ग्राह्य मानी जाती हैं, जहाँ तक वे अध्यात्मविद्या का पोषण करती हैं, उससे आगे नहीं। यहाँ अध्यात्मविद्या को दुनिया की समस्त विद्याओं में सर्वोपरि माना गया है। कहा गया है कि अन्य सर्व विद्याएँ तो क्षणिक और व्यावहारिक मात्र हैं, परन्तु अध्यात्मविद्या ही शाश्वत और पारमार्थिक विद्या है। अन्य विद्याएँ तो अधिक से अधिक एक जन्म से जीव का उद्धार कर देने वाली हैं, परन्तु अध्यात्मविद्या तो जन्म-जन्मान्तरों से जीवन उद्धार कर देती है।

यही कारण है कि प्राचीन काल में यहाँ के प्रत्येक निवासी को अध्यात्मविद्या का ज्ञान अवश्य होता था, चाहे वह कोई भी हो। यहाँ के साधु-

27. "जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।

बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख देन॥" — भूधरदास, बारह भावना

28. "आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान॥"

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, वीतराग-विज्ञान-प्रशिक्षण-निर्देशिका, मंगलाचरण

संन्यासी तो अध्यात्मविद्या में पारंगत होते ही थे बल्कि एक साधारण लकड़हारे से लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक भी इस अध्यात्मविद्या के अच्छे जानकार होते थे। जनक, राम, भरत आदि अनेक राजा तो अपनी अध्यात्मविद्या के कारण 'राजर्षि' तक कहलाते थे। जिन ऋषभ-पुत्र आदि-सम्राट् भरत चक्रवर्ती के नाम पर हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा है²⁹, वे स्वयं भी एक बहुत बड़े आध्यात्मिक पुरुष थे। षट्खण्डाधिपति होते हुए भी वे निर्लेपभाव से राज्य का संचालन करते थे। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व को उजागर करनेवाला एक गीत (पद) भी लोक में बहुत प्रसिद्ध है, जो इस सम्बन्ध में बड़ा ही महत्वपूर्ण है।³⁰

हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि सुखी जीवन हेतु अध्यात्मविद्या का ज्ञान सभी के लिए अनिवार्य है, चाहे वह कोई भी हो और आजीविकादि की दृष्टि से कुछ भी करता हो।

अधिकांश लोग समझते हैं कि अध्यात्मविद्या का ज्ञान तो केवल साधु-सन्तों के ही काम की अथवा केवल बुढ़ापे के काम की चीज है, परन्तु ऐसा

29. प्रायः सभी वैदिक एवं जैन पुराण इसका सशक्त समर्थन करते हैं कि ऋषभ-पुत्र 'भरत' के ही नाम पर हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा है, जैसा कि हम विगत अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं। तथापि इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा की पूर्ति हेतु 'भरत और भारत' नामक पुस्तक (लेखक— प्रेमसागर जैन, प्रकाशक— कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67) भी देखी जा सकती है।

30. अनेक हिन्दी-जैन-पद-संग्रहों में उपलब्ध पद। यथा—

“भरतजी घर में ही वैरागी, वे तो अन्न धन सबके त्यागी ॥ टेक ॥
कोड़ अठारह तुरंग है जाके, कोड़ चौरासी पागी।
लाख चौरासी गजरथ सोहैं, तो भी भये नहिं रागी ॥ भरतजी० ॥
तीन कोड़ गोकुल घर सोहैं, एक कोड़ हल साजै।
नव निधि रत्न चौदह घर जाके, मन वांछा सब भागी ॥ भरतजी० ॥
चार कोड़ मण नाज उठै नित, लोण लाख दश लागै।
कोड़ थाल कंचन मणि सोहैं, नहिं भया सोई रागी ॥ भरतजी० ॥
ज्यों जल बीच कमल अन्तःपुर, नहिं भये वे रागी।
भविजन होय सोई उर धारो, सोई पुरुष बड़भागी ॥ भरतजी० ॥”

नहीं है। हम-आप जैसे साधारण गृहस्थों को भी, यहा तक कि बच्चों को भी अध्यात्मविद्या का ज्ञान अत्यन्त लाभकारी है।³¹ दरअसल, अध्यात्मविद्या ही हमें एक ऐसी अद्भुत कला सिखाती है, जिससे हम हर परिस्थिति में जल में कमल की भाँति निर्लिप्त और काँटों में गुलाब की भाँति प्रसन्न रह सकते हैं। किसी भी प्रकार की अनुकूलता-प्रतिकूलता में हर्ष-विषाद का अतिरेक न होना, समताभाव बना रहना अध्यात्मविद्या की ही देन होती है। वर्तमान युग में जो तनाव (Tension) और अवसाद-विषाद (Depression) आदि की परेशानियाँ बढ़ गई हैं, उनका कारण अध्यात्मविद्या का अभाव ही है। यदि व्यक्ति को थोड़ा-बहुत भी अध्यात्मविद्या का ज्ञान हो तो वह इतने तनाव आदि दुःखों का शिकार नहीं हो सकता और अनेकानेक विपत्तियाँ/कष्ट आने पर भी अन्तरंग में शान्त व सुखी रह सकता है।³²

अध्यात्मविद्या से मनुष्य का पारलौकिक जीवन तो मंगलमय बनता ही है, लौकिक जीवन भी अत्यन्त सुखपूर्वक व्यतीत होता है। अध्यात्मविद्या हमें व्यर्थ के वाद-विवादों से दूर रखकर कषायों से बचाती है, सभी जीवों को समान भाव से देखने की सुन्दर कला सिखाती है, उनमें छोटे-बड़े के भेदभाव का पक्षपात करने की संकीर्णता दूर करती है, दूसरों को बदलने की चिन्ता दूर करती है, प्राप्त संयोगों में सन्तुष्ट रखती है, अप्राप्त संयोगों को प्राप्त करने की तीव्र आकुलता मिटाती है, भूत और भविष्यकाल के अनावश्यक विकल्पों से मुक्त रखकर वर्तमान को सुन्दरतम बनाने की ऊर्जा प्रदान करती है, तनाव (Tension) और अवसाद (Depression) कभी नहीं होने देती, सदैव मन को प्रफुल्लित रखती है, जिससे तन भी नीरोग रहता है; अतएव अध्यात्मविद्या का ज्ञान सभी को अवश्यमेव प्राप्त करना चाहिए।

31. "यह वहम सुना है कि आत्मज्ञान चौथे आश्रम में मिलता है; पर यह सार्वजनिक अनुभव है कि जो चौथे आश्रम तक इस अमूल्य वस्तु को मुलतवी रखते हैं, वे कभी आत्मज्ञान नहीं पाते।"— महात्मा गाँधी, सत्य के साथ मेरे प्रयोग

(नवभारत टाइम्स, हिन्दी दैनिक, दि. 3 अक्टूबर 2008)

32. (क) "न हि विषादो विधेयात्र तद्धि वैदुष्यजं फलम्।"

—आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण 17/9

- (ख) "आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।"

—आचार्य अमृतगति, योगसारप्राभृत 7/43

वैसे तो संसार में सैकड़ों प्रकार की विद्याएँ हैं और सभी का अपना-अपना महत्त्व भी है, परन्तु हमारी भारतीय संस्कृति में अध्यात्मविद्या को सर्वोपरि बता कर उसके ज्ञान हेतु विशेषरूप से प्रेरित किया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि संसार की सर्व विद्याएँ तो अत्यन्त सुलभ हैं और इस जीव ने जन्म-जन्मान्तरों में अनेक बार प्राप्त भी की हैं, परन्तु एक अध्यात्मविद्या ही अत्यन्त दुर्लभ है, जिसे इस जीव ने आज तक कभी प्राप्त नहीं किया। अरे, निज आत्मतत्त्व-निरूपक इस अध्यात्मविद्या के तो वक्ता और श्रोता ही अत्यन्त दुर्लभ हैं। बड़ी दुर्लभता से कोई जीव इस अध्यात्मविद्या को बतानेवाला मिलता है और कोई भली होनहार वाला ही उसे सीखकर अपना परमहित कर पाता है। प्रमाणस्वरूप मूर्धन्य दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द लिखते हैं—

“सुदपरिचिदाणुभूदा सब्बस्स वि कामभोगबन्धकहा।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥”³³

अर्थात् संसार के काम-भोग-बन्धनों की कथा तो सभी जीवों ने अनेक बार सुनी है, उसका खूब परिचय भी प्राप्त किया है और अनुभव भी किया है, परन्तु केवल एक अपने आत्मतत्त्व की कथा और उपलब्धि ही इस जीव को कभी सुलभ नहीं हो पाई है।

इसी प्रकार भट्टारक ज्ञानभूषण भी ‘तत्त्वज्ञानतरंगिणी’ में लिखते हैं—

“गणिकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रमर्मज्ञाः।

संगीतादिषु निपुणाः सुलभा न हि तत्त्ववेत्तारः ॥”³⁴

अर्थात् इस जगत् में गणित, चिकित्सा, तर्कशास्त्र, पुराण, वास्तु, शब्दशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि में निपुण लोग तो बहुत आसानी से मिल जाते हैं; परन्तु एक आत्मतत्त्व के ज्ञाता सुलभ नहीं हैं।

‘कठोपनिषद्’ में भी इसी प्रकार का भाव बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यथा—

“श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥”³⁵

33. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 4

34. भट्टारक ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी 11/3

35. कठोपनिषद्, 2/7

अर्थात् हे नचिकेता! जो बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता तथा अधिकांश जन सुन कर भी जिसे नहीं समझ पाते— ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्व का वक्ता मिलना, एक आश्चर्य-सा ही होता है।

इसी प्रकार अन्य भी सैंकड़ों स्थलों पर इस प्रकार का अभिप्राय प्रगट करनेवाले सैंकड़ों कथन भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिनसे हमें अध्यात्मविद्या के ज्ञान की उत्कट प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त एक निम्नलिखित दोहा भी ध्यान देने योग्य है जो लोकश्रुति के रूप में प्राचीन परम्परा से ही सुना जाता रहा है—

“कला बहत्तर पुरुष की, जिनमें दो सरदार।

एक जीव की जीविका, दूजा जीव-उद्धार॥”

अर्थात् संसार में 72 (सैंकड़ों) कलाएँ हैं, उनमें से दो कलाएँ प्रत्येक मनुष्य को अवश्य सीखनी चाहिए— 1. जिससे उसकी लौकिक आजीविका चलती है और 2. जिससे आत्मा का उद्धार होता है अर्थात् अध्यात्मविद्या।

तात्पर्य यही है कि हमें जिस प्रकार आजीविका हेतु किसी एक लोकविद्या में निपुण होना आवश्यक होता है, उसी प्रकार आत्मिक उद्धार हेतु अध्यात्म-विद्या में भी निपुण होना अत्यन्त आवश्यक है; आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

ध्यान रहे यह अध्यात्मविद्या कोरी भावुकता या किसी अन्धश्रद्धा पर आधारित वस्तु नहीं है अपितु एक युक्तियुक्त विज्ञान ही है। इसीलिए अध्यात्म-विद्या का ज्ञान कोई हँसी-खेल नहीं है, वह बहुत गूढ़-गम्भीर विषय है और अत्यन्त सावधानीपूर्वक विधिवत् रूप से अध्ययन करके ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ हमारे पास अध्यात्मविद्या के सांगोपांग पूर्ण विवेचन हेतु तो अवकाश नहीं है, किन्तु उसका सबसे पहला पाठ है— आत्मा का स्वरूप; जैसा कि ‘अध्यात्म’ शब्द से ही स्पष्ट होता है— अधि + आत्मा = अध्यात्म। ‘अध्यात्म’ शब्द की परिभाषा भी विभिन्न ग्रन्थों में इसी प्रकार उपलब्ध होती है। यथा—

(क) “निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम्।”³⁶

36. आचार्य जयसेन, समयसार-टीका, परिशिष्ट, पृष्ठ 525

अर्थात् निज शुद्धात्मा में विशुद्धता का अनुष्ठान ही अध्यात्म है।

(ख) "आत्मानं देहमिन्द्रियादिकं क्षेत्रज्ञं ब्रह्म वा अधिकृत्य।"³⁷

अर्थात् आत्मा अथवा ब्रह्म को अधिकार (विषय) बनाकर की गई चर्चा या आत्मविषयक चर्चा।

(ग) "अधीयते आत्मानं सततमिति अध्यात्मम्।"³⁸

अर्थात् निरन्तर आत्मा का अध्ययन करना ही अध्यात्म है।

(घ) "अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।"³⁹

अर्थात् कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्त्व ब्रह्म है और प्रत्येक वस्तु के निजभाव को स्वभाव कहते हैं। उसी स्वभाव का नाम अध्यात्म है।

(ङ) "आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तुस्वभावः अध्यात्मम् उच्यते अध्यात्मशब्देन अभिधीयते।"⁴⁰

अर्थात् शरीर के अन्दर किन्तु शरीर से भिन्न जो परमार्थ ब्रह्म या आत्मा निवास करता है, उसी तत्त्व को निश्चय से अध्यात्म कहते हैं।

(च) "आत्मादिविषयं ज्ञानम् अध्यात्मज्ञानम्।"⁴¹

अर्थात् आत्मादि विषयक ज्ञान को अध्यात्मज्ञान कहते हैं।

इसप्रकार यह सुस्पष्ट है कि अध्यात्मविद्या के लिए सर्वप्रथम आत्मा का स्वरूप भलीभाँति जानना अत्यन्त आवश्यक है, उसके बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से आध्यात्मिक नहीं हो सकता।

तथा आत्मा के साथ-साथ परमात्मा के भी समीचीन स्वरूप को समझना अध्यात्मविद्या का अनिवार्य अंग है। यही कारण है कि प्रस्तुत कृति में हमारा उद्देश्य आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप को ही विभिन्न भारतीय दर्शनों के आलोक में भलीभाँति स्पष्ट करना है।

37. हिन्दी विश्वकोश (नगेन्द्रनाथ वसु), पृष्ठ 1/376

38. आचार्य जयसेन, प्रवचनसार-टीका

39. भगवद्गीता 8/3

40. भगवद्गीता 8/3, शांकरभाष्य

41. भगवद्गीता 13/11, शांकरभाष्य

30 :: भारतीय दर्शनों में आत्मा एवं परमात्मा

आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म की सिद्धि

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए हम जब भी उद्यत होते हैं तो सबसे पहले हमारा सामना इस विकराल समस्या से होता है कि आत्मा कुछ है भी या नहीं? क्या प्रमाण है आत्मा के अस्तित्व का? किसने देखा है आत्मा को? इतना विकसित आधुनिक विज्ञान भी आत्मा को क्यों नहीं सिद्ध कर पा रहा है? इत्यादि-इत्यादि।

कुछ लोग इन्हीं प्रश्नों से परेशान होकर स्वयं को नास्तिक तक कह देते हैं। कह देते हैं कि हम आत्मा को नहीं मानते और उसके बाद वे आत्मा का स्वरूप जानने का कभी कोई ईमानदार प्रयत्न ही नहीं कर पाते।

किन्तु परेशान होकर कोई भी उल्टी-सीधी धारणा बना लेने से तो काम नहीं चलेगा। प्रश्न हैं तो उनके उत्तर भी खोजने ही होंगे।

दरअसल, इस जगत् में दो प्रकार की सत्ताएँ (वस्तुएँ / पदार्थ) हैं— एक मूर्तिक और दूसरी अमूर्तिक। मूर्तिक सत्ता भौतिक है, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिमान् है, अतः हम उसे अपनी इन्द्रियों द्वारा आसानी से जान लेते हैं, उसके अस्तित्व और स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कोई शंका नहीं रहती; परन्तु अमूर्तिक सत्ता स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि से सर्वथा रहित होती है, उसे हम-आप कोई भी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं जान सकते हैं; न तो हम उसे देख सकते हैं, न सुन सकते हैं, न सूँघ सकते हैं, न चख सकते हैं और न ही छू सकते हैं।

ऐसी स्थिति में अमूर्तिक वस्तुओं की सत्ता को जानना थोड़ा कठिन कार्य हो जाता है, किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यह कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। तथा कठिन भी बहुत अधिक नहीं है, अनभ्यास के कारण मात्र अभी हमें कठिन लगता भर है।

आत्मा अमूर्तिक वस्तु है, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि से रहित ही है, उसे हम-आप अपनी किसी भी इन्द्रिय द्वारा नहीं जान पाते हैं; अतः उसके अस्तित्व और स्वरूप में शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है, किन्तु इस शंका का समाधान होना कठिन नहीं है। जिस प्रकार अनेक अप्रत्यक्ष (परोक्ष) वस्तुओं को हम युक्ति और आगम द्वारा भलीभाँति जान लेते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी हम युक्ति और आगम के द्वारा भलीभाँति जान सकते हैं, भले ही वह हमें किसी भी इन्द्रिय से नहीं ज्ञात होता है।

युक्ति और आगम को भी, वस्तु का ज्ञान कराने में इन्द्रियों से कम उपयोगी अथवा कम प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार इन्द्रियाँ वस्तुओं का ज्ञान कराने में सहायक होती हैं, उसी प्रकार युक्ति और आगम भी वस्तुओं का ज्ञान कराने में बड़े सहायक होते हैं।

इतना ही नहीं, यदि ऐसा भी कहा जाए कि युक्ति और आगम तो वस्तुस्वरूप को जानने हेतु इन्द्रियों से भी अधिक प्रामाणिक साधन हैं तो अनुचित नहीं होगा, क्योंकि अनेक बार इन्द्रियों से गलत ज्ञान होते हुए हम देखते ही हैं और तब युक्ति एवं आगम से हुए ज्ञान को ही प्रामाणिक मानते हैं, अतः वर्तमान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा ही सब-कुछ जानने का आग्रह रखना मिथ्या आग्रह (दुराग्रह) है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा सब-कुछ जानना सम्भव ही नहीं है। लोक में भी अनेक बार हम कुछ मूर्तिक वस्तुओं को भी अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जान पाते हैं, और युक्ति एवं आगम से ही जानते हैं।

अमूर्तिक आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को जानने के लिए हमें सर्वप्रथम उसे इन्द्रियों से जानने का आग्रह छोड़कर, इन्द्रियों से कुछ ऊपर उठने का प्रयत्न करना चाहिए, ठोस युक्ति और समीचीन आगम का अवलम्बन

1. (क) “से ण सद्दे, ण रूवे, ण गन्धे, ण रसे, ण फासे इच्चेतावंति।

सव्वे सरा णियट्ठंतिए तक्का तत्थ ण विज्जइए मई तत्थ ण गाहिया।”

—आचारांग 1/5/5

(ख) “न तत्र चक्षुर्गच्छति, वाग् गच्छति, नो मनो...।” --केनोपनिषद्

(ग) “न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।”

—मुण्डकोपनिषद्

लेना चाहिए। सभी प्राचीन आत्मज्ञ ऋषि-मुनियों ने आत्मा के अस्तित्व को इसी प्रकार सिद्ध कर दिखाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह आत्मा अरस है, अरूप है, अगन्ध है, अव्यक्त है और चेतनागुण सहित है, इसका कोई प्रकट संस्थान नहीं है, अतः इसे इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है— यह अतीन्द्रिय है। यथा—

2. "एक बार कुछ विद्यार्थी भूतपूर्व राष्ट्रपति महान् दार्शनिक सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन से आत्मिक तत्त्वज्ञान की चर्चा करने आये। आत्मा के विषय में जब चर्चा चली तो वे कहने लगे— 'डॉ. साहब! हम आत्मा को तभी मान सकते हैं, जब आप हथेली पर लेकर प्रत्यक्ष बताएँ।' इस पर उन्होंने कहा— 'विद्यार्थियो! आत्मा है, वह अनुभवगम्य है। यह सनातन सत्य है। तुम न मानो, इससे आत्मा का अस्तित्व मिट नहीं जाता। यह त्रिकाल स्थायी शाश्वत पदार्थ है। तुम कहते हो— इसे प्रत्यक्ष बताओ; किन्तु आत्मा ऐसा तत्त्व है जिसे स्थिरबुद्धि वाला प्राज्ञ ही जान सकता है। तुममें से जो सबसे अधिक बुद्धिमान हो, वह आगे आये।' उन्होंने एक सबसे बुद्धिमान विद्यार्थी को आगे कर दिया। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा— 'मैं इसे पहचानता नहीं, तुम्हारे कथन पर विश्वास करके मान लेता हूँ कि यह विद्यार्थी महाबुद्धिमान है। अब एक काम करो। इसकी बुद्धि निकाल कर टेबल पर रखो। फिर मैं भी अपनी आत्मा निकाल कर टेबल पर रख दूँगा।' विद्यार्थीगण— 'ओह डॉ. साहब! कैसी बात करते हैं आप? क्या बुद्धि दिमाग में से निकालकर बताने की या आँखों से देखने की वस्तु है?' 'तो फिर बुद्धि को कैसे जाना जाए?'— उन्होंने कहा। विद्यार्थियों ने कहा— 'बुद्धि तो इन्द्रियों से देखने-सुनने आदि की चीज नहीं है, वह तो सिर्फ अनुभव करने की चीज है। हमारा यह विद्यार्थी उसका अनुभव कर पाता है। बुद्धि के परिणामस्वरूप उसकी शक्ति को हम देख सकते हैं, परन्तु बुद्धि तो निकाली या दिखाई नहीं जा सकती।' डॉ. राधाकृष्णन— 'प्यारे मित्रो! यही बात आत्मा के सम्बन्ध में समझो। आत्मा केवल अनुभव करने की चीज है। वह आँखों से साक्षात् देखी नहीं जा सकती। परिणामस्वरूप देह में होनेवाली खाना-पीना, चलना-फिरना, बोलना आदि क्रियाओं को देखकर हम अनुमान लगा लेते हैं कि देह में कोई विशिष्ट शक्ति है, जिसके द्वारा ये क्रियाएँ हो रही हैं। वह आत्मा ही है। समझ गए न? आत्मा निकाल कर हाथ में लेकर दिखाने की चीज नहीं है।"

—अप्पा सो परमप्पा (देवेन्द्र मुनि), पृष्ठ 61

“अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसहं।

जाण अलिंगगहणं जीवमणिहिदुसंठाणं ॥”³

अर्थात् जो रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त है, चेतनागुण से युक्त है, शब्दरहित है, किसी चिह्न या इन्द्रिय द्वारा गोचर नहीं होता और जिसका कोई एक निश्चित आकार बताया नहीं जा सकता है, उसे जीव जानो।

यह आत्मा अरस, अरूप इत्यादि है, अतएव इसे किसी प्रकार के शस्त्रादि से काटा नहीं जा सकता, अग्नि आदि से जलाया नहीं जा सकता, जलादि द्वारा गलाया नहीं जा सकता और हवा द्वारा सुखाया भी नहीं जा सकता है। जैसा कि ‘गीता’ के श्लोकों में जगत्-प्रसिद्ध है—

“नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥”⁴

अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र नहीं छेद सकते हैं, अग्नि नहीं जला सकती है, पानी भी नहीं गला सकता है और हवा भी नहीं सुखा सकती है; यह तो अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है; यह नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है।

‘आचारांग’ नामक जैनागम में भी ऐसा ही कहा है—

“से ण छिज्जइ, ण भिज्जइ, ण डज्जइ, ण हम्मइ कंचणं सब्वलोए ॥”⁵

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि हेतु शास्त्रों में अनेकानेक युक्तियाँ विस्तारपूर्वक प्रस्तुत की गई हैं। यहाँ सभी को सविस्तार प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं है, परन्तु उनमें से कुछ प्रमुख युक्तियाँ निम्नानुसार हैं। यदि सावधानीपूर्वक इन्हें ही समझने का प्रयत्न किया जाए तो अवश्य ही आत्मा के अस्तित्व में कोई शंका नहीं रहेगी।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि हेतु निम्नलिखित अनेक तर्क प्रमाण दिये गये हैं—

3. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 49
4. भगवद्गीता, 2/23-24
5. आचारांग 1/3/3/400

“(क) हित पदार्थ के पाने का और अहित पदार्थ के छोड़ने का व्यापार मनुष्य के शरीर में हमेशा पाया जाता है। इससे शरीर के भीतर किसी चेतन पदार्थ की सत्ता का संकेत मिलता है। जैसे रथ के व्यापार से रथ के भीतर सारथी रूप चेतन पदार्थ का अनुमान होता है, वैसे ही शरीर के व्यापार से जिस चेतन पदार्थ का अनुमान किया जाता है, वही आत्मा है (व्यापार)।

(ख) श्वास-प्रश्वास से शरीर फूलता है तथा संकुचित होता है। यह किसी चेतन पदार्थ के द्वारा ही किया जाता है। जैसे लोहार की भाथी का फूलना और संकुचित होना भाथी फूँकने वाले प्राणी के व्यापार से होता है (प्राणापान)।

(ग) कुएँ में मोट का गिरना तथा उठना मोट खींचने के व्यापार से होता है। ठीक इसी प्रकार आँख की पलक का गिरना तथा उठना चेतन व्यक्ति का ही व्यापार है (निमेषोन्मेष)।

(घ) शरीर में घाव लगता है और दवा करने पर फिर भर जाता है। यह शरीर में स्थित आत्मा के द्वारा हो सकता है, जैसे घर में रहनेवाला घर की मरम्मत करता है (जीवन)।

(ङ) मन को प्रेरित करनेवाला भी आत्मा ही है। जैसे बालक अपनी इच्छा से गोली या गेंद इधर-उधर फेंकता है, उसी प्रकार आत्मा भी मन को अपनी इच्छा के अनुसार इधर-उधर दौड़ाया करता है (मनोगति)।

(च) मीठे आम को देखकर मुँह में पानी भर आता है। इसका कारण क्या है? किसी रूपविशेष के साथ रसविशेष का अनुभव पहले हो चुका है और उसी की स्मृति वर्तमान दशा में हो रही है। अनुभव तथा स्मृति का आश्रय एक ही होना चाहिए। सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता एक ही चेतन है और वही आत्मा है।

(छ) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण हैं, अतः इनका कोई आश्रय द्रव्य होना ही चाहिए। जड़ होने से शरीर वह आश्रय नहीं हो सकता, चेतन आत्मा ही इसका आश्रय होता है।^१ इन गुणों के आश्रय होने से भी आत्मा

6. आत्मा के इन नाना चिह्नों का निर्देश महर्षि कणाद ने इस सूत्र में एकत्र किया है — ‘प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगति-इन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि’ (—वैशेषिकसूत्र 3/2/4)। विशेष के लिए देखिए इसका प्रशस्तपादभाष्य।

की सिद्धि होती है।⁷

इसी प्रकार जैन दर्शन के ग्रन्थों में भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक निम्नलिखित युक्तियों द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की गई है—

युक्ति 1— जिस प्रकार यन्त्र-प्रतिमा की चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं, उसी प्रकार प्राण-अपान (श्वासोच्छ्वास) आदि कार्य भी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं।⁸

युक्ति 2— स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तो माध्यम हैं, वे स्वयं नहीं जानती, क्योंकि वे चश्मा आदि उपकरणों के समान अचेतन हैं; अतः इन इन्द्रियों के माध्यम से जो कोई अन्य जानता-देखता है, वही आत्मा है।⁹

युक्ति 3— जिस प्रकार रथ की क्रियाओं का अधिष्ठाता सारथी होता है; उसी प्रकार इस शरीर की क्रियाओं का अधिष्ठाता आत्मा है; अन्यथा शरीर तो साक्षात् अचेतन है। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि जो शरीर वर्षों तक ठीक रहता है, वही आत्मा के शरीर से चले जाने पर कुछ ही घण्टों में सड़ने-गलने लगता है।¹⁰

युक्ति 4— 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि प्रकार से जो 'अहं-प्रत्यय' होता है, उससे भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है।¹¹

युक्ति 5— 'आत्मा' शब्द (सार्थक) है तो 'आत्मा' नामक अर्थ भी अवश्य होना चाहिए। जिनका अस्तित्व नहीं होता, उनके वाचक शब्द भी नहीं होते।¹²

7. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 226

8. (क) आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 5/19

(ख) आचार्य मल्लिषेण, स्याद्वादमंजरी, 17

9. (क) हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 228

(ख) आचार्य मल्लिषेण, स्याद्वादमंजरी, 17

10. (क) हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 228

(ख) आचार्य मल्लिषेण, स्याद्वादमंजरी, 17

11. (क) हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 231

(ख) आचार्य मल्लिषेण, स्याद्वादमंजरी, 17

12. "जीवशब्दो सबाह्यार्थं संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्।

मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवात् ॥"

—आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, 84

युक्ति 6— 'अजीव' शब्द से ही जीव अर्थात् आत्मा की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि जीव का निषेध जीव के अस्तित्व का अविनाभावी है अर्थात् यदि जीव की सत्ता न हो तो 'अजीव' शब्द ही नहीं बन सकता।¹³

युक्ति 7— गुण (सुख, दुःख, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि) गुणी के बिना नहीं रह सकते। चूँकि ज्ञान-दर्शन आदि गुण पाये जाते हैं, अतः उनका स्वामी (गुणी) भी होना ही चाहिए, वह गुणी आत्मा है।¹⁴

युक्ति 8— हर क्रिया का भी कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होता है, अतः जानने रूप क्रिया का कर्ता भी अवश्य होना चाहिए और वही आत्मा है।¹⁵

युक्ति 9— उपर्युक्त प्रमुख युक्तियों के अतिरिक्त स्याद्वादमंजरी, तत्त्वार्थवार्तिक आदि कतिपय ग्रन्थों में एक अकाट्य युक्ति यह भी प्रस्तुत की गई है कि बताइए 'यह आत्मा है'— ऐसा जो हमको अनुभवात्मक ज्ञान होता है, वह क्या है? संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय या सम्यग्ज्ञान? कोई एक तो अवश्य होगा। यदि संशय है तो भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है क्योंकि अवस्तु का संशय नहीं होता। यदि विपर्यय है तो भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है क्योंकि सर्वत्र अप्रसिद्ध पदार्थ का विपर्यय नहीं होता। अनध्यवसाय तो हो नहीं सकता क्योंकि अनादिकाल से प्रत्येक व्यक्ति आत्मा का स्पष्ट अनुभव करता है। तथा यदि सम्यग्ज्ञान है तब तो वह आत्मा के अस्तित्व का साधक है ही। यथा—

“योऽयमस्माकम् 'आत्माऽस्ति' इति प्रत्ययः स संशयानध्यवसाय-विपर्ययसम्यक्प्रत्ययेषु यः कश्चित् स्यात्, सर्वेषु च विकल्पेष्विष्टं सिध्यति। न तावत्संशयः; निर्णयात्मकत्वात्। सत्यपि संशये तदालम्बनात्मसिद्धिः। न हि अवस्तुविषयः संशयो भवति। नाप्यनध्यवसायो जात्यन्धबधिररूपशब्दवत्, अनादिसम्प्रतिपत्तेः। स्याद्विपर्ययः, एवमप्यात्मास्तित्वसिद्धिः पुरुषे स्थाणुप्रतिपत्तौ

13. हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 231

14. (क) आचार्य मल्लिषेण, स्याद्वादमंजरी, 17

(ख) हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 230

15. आचार्य मल्लिषेण, स्याद्वादमंजरी, 17

स्थाणुसिद्धिवत्। स्यात्सम्यक्प्रत्ययः, अविवादमेतत् आत्मास्तित्वमिति सिद्धो नः पक्षः।¹⁶

इस प्रकार अनेक अकाट्य युक्तियों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने के बाद भी कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा इस पौद्गलिक शरीर से भिन्न नहीं है अपितु इसी की एक विशिष्ट क्रिया चेतना रूप में प्रतीत होती है तथा उस चेतना का उत्पाद-विनाश भी शरीर के ही जन्म-मरण तक सीमित रहता है।

किन्तु यह मत भी किञ्चिदपि युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता, जिसकी विशेष चर्चा तो आगे चार्वाक-मत-समीक्षा करते हुए की जाएगी, किन्तु अभी संक्षेप में इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि चेतना कथमपि शरीर का धर्म नहीं हो सकता, शरीर और चेतना में सर्वथा भेद है, दोनों के गुण-धर्म सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; अतः शरीर और चेतन— इन दोनों को भिन्न-भिन्न दो द्रव्य मानना ही उचित है। यही कहा भी है—

“विरुद्धगुणसंसर्गादात्मा भूतात्मको न हि।
भूजलानलवातानामन्यथा न व्यवस्थितिः ॥
विज्ञानसुखदुःखादिगुणलिंगः पुमानयम्।
धारणेरणदाहादिधर्माधारा धरादयः ॥”¹⁷

इस प्रकार विविध युक्तियों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाने के उपरान्त यह स्वयमेव सिद्ध हुआ मान लेना चाहिए कि आत्मा भी सत् है, अस्तित्वमय है, एक स्वतन्त्र द्रव्य है; अतः उसमें भी वे सभी सामान्य गुण पाये जाते हैं, जो किसी भी सत् या सत्तारूप वस्तु में पाये जाते हैं।

आत्मा स्वभावतः अनादि-अनन्त है, उसकी सर्वथा न उत्पत्ति होती है और न ही नाश, किन्तु वह सर्वथा कूटस्थ भी नहीं है, उसमें सतत परिणमन भी पाया जाता है। अन्य वस्तुओं की भाँति वह भी नित्यानित्यात्मक है। उसमें निरन्तर उत्पाद (नई अवस्था का आगमन) और व्यय (पुरानी अवस्था का नाश) होता रहता है, फिर भी स्वभाव की अपेक्षा वह नित्य स्थायी भी बना रहता है।¹⁸

16. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, 2/8/20

17. सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 5/119-20

18. आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, तृतीय परिच्छेद

आत्मा को सामान्य-विशेषात्मक भी कहा जा सकता है;¹⁹ उसमें यद्यपि अनन्तानन्त गुण-पर्यायें रहती हैं तथापि वह एक अखण्ड-अभेद रहता है। संख्यापेक्षा भी वे आत्माएँ जितने हैं, उतने ही हैं, न एक कम होता है, न अधिक— इत्यादि।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मा का अस्तित्व है और जगत् के अनन्तानन्त पदार्थों की भाँति वह भी एक अनादि-अनन्त सामान्य-विशेषात्मक सत्तारूप वस्तु है।

तथापि यदि अभी भी किसी को आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास न हो तो उसे श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में दुनिया का बड़ा भारी आश्चर्य ही कहा जाएगा, क्योंकि आत्मा स्वयं ही अपने अस्तित्व में शंका कर रहा है, जबकि यह सुस्पष्ट है कि जो शंका कर रहा है वही तो स्वयं आत्मा है—

“आत्मानि शंका करे, आत्मा पोते आप।

शंकानो करतार ते, अचरज यहै अमाप ॥”²⁰

19. आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, चतुर्थ परिच्छेद

20. श्रीमद् राजचन्द्र, आत्मसिद्धि, 58

पूर्वजन्म-पुनर्जन्म-सिद्धि

यद्यपि आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि से ही आत्मा के पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की भी स्वयमेव सिद्धि हो जाती है, क्योंकि आत्मा अपने मूल स्वभाव से अजर-अमर होते हुए भी पर्याय-अपेक्षा से जन्म-मरणशील भी है। तथापि अनेक लोग इस विषय में भी बहुत शंकाएँ करते देखे जाते हैं, अतः यहाँ इस सम्बन्ध में भी किंचित् लिखना उचित है।

1. ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि आत्मा का अस्तित्व है, आत्मा एक सत्त्वरूप वस्तु है और इसलिए उसमें वे सभी सामान्य गुण पाये जाते हैं, जो किसी भी सत् पदार्थ में पाये जाने चाहिए। सत् वस्तु का सर्वप्रथम गुण यही है कि उसका कभी सर्वथा उत्पाद या विनाश नहीं होता, मात्र अवस्थाएँ बदलती हैं²¹ जिसप्रकार स्वर्ण पुद्गल का कभी सर्वथा उत्पाद नहीं हो सकता और संसार की कोई शक्ति उसका सर्वथा नाश भी नहीं कर सकती, उत्पाद-व्यय मात्र उसकी अवस्थाओं में ही होता है, मूल वस्तु तो अनादिकाल से अनन्तकाल तक ज्यों की त्यों बनी रहती है; उसी प्रकार आत्मा का भी सर्वथा नया उत्पाद नहीं होता और संसार की कोई शक्ति उस आत्मा का सर्वथा विनाश भी नहीं कर सकती। मूल आत्मतत्त्व अनादि-अनन्त ही रहता है, मात्र उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। आत्मा के ऐसे अवस्था-परिवर्तन को समझ लेने पर वस्तुतः आत्मा के पूर्वजन्म-परजन्म आदि की स्वयमेव सिद्धि हो जाती है। यदि पूर्वजन्म-परजन्म को न माना जाए तो आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

2. आधुनिक विज्ञान भी इतना तो भलीभाँति सिद्ध कर ही चुका है कि इस जगत् की कोई वस्तु सर्वथा उत्पन्न नहीं होती और न ही कभी सर्वथा नष्ट

21. “सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।” — तत्त्वार्थसूत्र 5/29-30

होती है, उत्पत्ति और नाश केवल उसकी अवस्थाओं के परिवर्तन को ही कहा जाता है— “Nothing can be produced or destroyed completely. It's form only changes.”

अतः इससे भी समझा जा सकता है कि आत्माओं का जो जन्म-मरण हम देखते हैं, वह सर्वथा नवीन उत्पाद या पूर्ण विनाश नहीं हो सकता; उसके आगे-पीछे भी उन आत्माओं का किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व अवश्य होना चाहिए और वह पूर्वजन्म-परजन्म (पुनर्जन्म) ही है।

3. पूर्वजन्म और परजन्म को न मानने से कर्म-सिद्धान्त भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि हम ऐसा मानते हैं कि आत्मा अपने समस्त शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है तो हमें पूर्वजन्म-परजन्म को अवश्य मानना ही होगा।

आत्मा को उसके समस्त शुभाशुभ कर्मों का फल भोगते हुए यहाँ इसी वर्तमान जन्म में नहीं देखा जाता है, अतः अवश्य ही पुनर्जन्म होना चाहिए।

उदाहरणार्थ— यहाँ कोई व्यक्ति किसी एक आदमी की हत्या करता है तो उसे फाँसी की सजा दी जाती है, और यदि वह दस आदमियों की हत्या करे तो भी उसे फाँसी ही दी जाती है, और यदि पचास आदमियों की हत्या करे तो भी फाँसी ही दी जाती है। एक आदमी की हत्या से दस आदमियों की हत्या का और दस आदमियों की हत्या से पचास आदमियों की हत्या का पाप अधिक है— अपराध बड़ा है, परन्तु यहाँ सभी की सजा एक जैसी फाँसी ही सुनाई जा सकती है, जो वस्तुतः देखा जाए तो न्याय नहीं हुआ है; अतः इसके न्याय हेतु अवश्य ही नरकादि गतियों में पुनर्जन्म का अस्तित्व मानना होगा।

इसी प्रकार इस जन्म में प्रयत्न किये बिना ही एक आदमी अत्यधिक अनुकूल भोग-सामग्रियों के बीच जन्म लेता है और महान सुख भोगता है, किन्तु दूसरा व्यक्ति अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच जन्म लेता है और घोर कष्ट सहता है; इससे सिद्ध होता है कि पूर्वजन्म में किये गये कर्म ही वहाँ असली कारण हैं।

इसी प्रकार यदि पुनर्जन्म न हो तो जीव के पूजा-पाठ-दया-दानादि शुभकर्म और हिंसा-झूठ आदि अशुभकर्म निरर्थक सिद्ध होंगे, क्योंकि इनका विशेष फल जीव अपने पुनर्जन्म में ही स्वर्गादि या नरकादि में भोगता है।

इसी प्रकार पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को न मानने पर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष जाने का सम्पूर्ण पुरुषार्थ भी व्यर्थ सिद्ध होगा। यदि जन्म-मरण ही नहीं है तो उससे मुक्ति की कामना भी व्यर्थ ही ठहरेगी और जब जन्म-मरण से ही मुक्ति नहीं है तो मोह-राग-द्वेषादि विकारों को मिटा कर ज्ञान-वैराग्य-तपादि धारण करने से क्या प्रयोजन शेष रहेगा?

4. प्रायः सभी धर्मों या दर्शनों में भी पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही स्वीकार किया गया है।²² जैन पुराणों में एक ही आत्मा के असंख्य जन्मों का विवरण उपलब्ध होता है। वैदिक पुराणों में भी जन्म-जन्मान्तरों की हजारों कथाएँ वर्णित हैं। बौद्ध जातक भी पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की ही कथाओं का चित्रण करते हैं।

इसके अतिरिक्त साहित्यिक एवं लौकिक प्रेम-कथाओं में भी नायक-नायिकाओं के अनेक जन्मों के प्रेम-सम्बन्धों का चित्रण उपलब्ध होता है।

5. यहाँ तक कि हम प्रत्यक्ष ही अनेकानेक लोगों को अपने पूर्वजन्म का सही-सही वृत्तान्त निरूपण करते भी देखते-सुनते हैं। यदा-कदा समाचार-पत्रों में भी ऐसी घटनाएँ पढ़ने को मिलती रहती हैं, जिनसे भी आत्मा के पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। समाचार-पत्रों में प्रकाशित होनेवाली घटनाओं में से एक ताजा उदाहरण इस प्रकार है—

“पलवल : यूपी के कस्बे जट्टारी की 7 साल की आरती कहती है कि मेरा पुनर्जन्म हुआ है। उसका दावा है कि पिछले जन्म में वह नजदीक के गाँव फुलवाड़ी में रहती थी और उसका नाम रिसाली था। इस बच्ची को देखने के लिए लोगों का ताँता लगा हुआ है। आरती के पिता हरिकृष्ण कहते हैं कि जब से बेटी ने होश संभाला है, वह खुद को रिसाली बताती है। जब सात साल की हुई तो फुलवाड़ी खबर भेजी। पता चला कि वहाँ रिसाली नाम की वृद्धा की 11 साल पहले 85 की उम्र में मौत हो गई थी। सन्देश पाकर उनका बेटा रंजीत घर आया और आरती ने पहचान लिया और घर-परिवार की बातें करने लगी। आरती को फुलवाड़ी गाँव लाया गया। उसे घर से काफी पहले ही छोड़ दिया गया, लेकिन उसने पुराना घर पहचान लिया।”²³

22. “सारे दर्शन पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्म में आस्था रखते हैं।”

—डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 2/17

23. नवभारत टाइम्स (हिन्दी दैनिक), नयी दिल्ली, रविवार, 6 जनवरी 2008

44 :: भारतीय दर्शनों में आत्मा एवं परमात्मा

इसी प्रकार की एक-दो अन्य घटनाएँ भी प्रायः हर माह ही हम विविध समाचार पत्रों में पढ़ते रहते हैं। इससे भी पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को नहीं मानने के पीछे एक तर्क प्रायः यह दिया जाता है कि पूर्वजन्म था तो उसका हमें स्मरण होना चाहिए था। जैसे कि बचपन की घटनाओं का बचपन बीत जाने पर भी स्मरण रहता है। यदि पूर्वजन्म था तो आज हमें उसका स्मरण क्यों नहीं है?

इसका समाधान यह है कि आज हमारा मानस-पटल केवल उन्हीं घटनाओं को याद रख पाता है जो उसकी ऊपरी सतह पर होती है, गहराई में बैठी बातों को याद नहीं कर पाता। बचपन की भी सारी बातें हमें बाद में कहाँ याद रह पाती हैं? माता के स्तनपानादि के अनेक प्रसंग हम प्रायः सर्वथा भूल चुके होते हैं। इस प्रकार जब हमें इस जन्म की ही शैशवावस्था की बातें याद नहीं रहती तो पूर्वजन्म की बातें याद रहना तो और भी अधिक मुश्किल है। यही स्वामी विवेकानन्द का भी कहना है—

“इस पर एक शंका की जा सकती है। अच्छा, ये सभी बातें तो मान ली गयीं, पर यह कैसी बात है कि मेरे पूर्वजन्म की कोई बात मुझे स्मरण नहीं है? इसका समाधान सरल है। मैं अभी अंग्रेजी बोल रहा हूँ। वह मेरी मातृभाषा नहीं है। सच पूछो तो इस समय मेरी मातृभाषा का कोई भी शब्द मेरे चित्त में उपस्थित नहीं है, पर उन शब्दों के सामने लाने का थोड़ा प्रयत्न करते ही वे मेरे मन में उमड़ आते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि मानस-समुद्र की सतह पर जो कुछ रहता है, वही हमें बोधगम्य हुआ करता है और भीतर, उसकी गहराई में हमारी समस्त अनुभवाशिशि निहित रहती है; केवल प्रयत्न तथा उद्यमपूर्वक मन्थन करने की आवश्यकता है। वे सारे अनुभव ऊपर सतह पर उठ आयेंगे और पूर्वजन्मों की स्मृति जाग उठेगी।

पूर्वजन्म के सम्बन्ध में यही साक्षात् प्रमाण है। परीक्षा द्वारा ही किसी मतवाद की सच्चाई पूर्णतः प्रमाणित होती है। ऋषिगण समस्त संसार को ललकार कर कह रहे हैं कि हमने उस रहस्य का पता लगा लिया है जिससे स्मृति-सागर की गम्भीरता का गहराई तक मन्थन किया जा सकता है— उसका प्रयोग करो और तुम अपने पूर्वजन्मों की सम्पूर्ण स्मृति प्राप्त कर लोगे।”²⁴

24. स्वामी विवेकानन्द, हिन्दू धर्म, पृष्ठ 5

साधना द्वारा मानस-पटल की गहराई में उतरकर अनेक योगी अपने पूर्वजन्मों का स्मरण करते भी देखे जाते हैं, जिसे जाति-स्मरण ज्ञान कहा जाता है।

6. जैन ग्रन्थों में अनेक जन्म-जन्मान्तरों का न केवल उल्लेख उपलब्ध होता है, अपितु जन्म-धारण की पूरी प्रक्रिया का भी विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है, जो अतिसंक्षेप में इस प्रकार है²⁵—

जब कोई जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने जाता है तो इस बीच की स्थिति को 'विग्रहगति' कहते हैं। 'विग्रह' का अर्थ होता है - शरीर, और नवीन शरीर प्राप्त करने के लिए जो गति की जाती है उसे 'विग्रहगति' कहते हैं। जिन जीवों को संसारचक्र से मुक्त हो जाना है, पुनर्जन्म धारण नहीं करना है वे तो सीधे ऊपर जाकर एक 'समय' (काल की सबसे सूक्ष्म इकाई, जो सैकण्ड ही नहीं, नैनो सैकण्ड से भी बहुत छोटी बताई गयी है।) में लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाते हैं; परन्तु जिन्हें पुनः शरीर धारण करना है, वे भी सर्वप्रथम सीधे ऊर्ध्वगमन करते हैं। उसके बाद जहाँ अगला जन्म धारण करना है, उस ओर 90 प्रतिशत के कोण से ही मुड़कर एकदम सीधे जाते हैं, टेढ़े-मेढ़े नहीं। आवश्यकतानुसार ये मोड़ तीन भी हो सकते हैं, परन्तु इससे अधिक नहीं; क्योंकि बिना शरीर का जीव संसारदशा में अधिक से अधिक चार समय तक ही रह सकता है, इससे अधिक नहीं। चौथे समय के बाद तो वह निश्चितरूप से नया शरीर धारण कर ही लेता है।

बहुत से लोग कहते हैं कि अमुक की आत्मा अभी तक भटक रही है, उसकी गति नहीं हुई है परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी आत्मा अपना एक शरीर छोड़ने के बाद कुछ ही समय में (अधिकतम 4 समय में, जो कुल मिलाकर भी एक सेकण्ड से कम है।) निश्चित रूप से दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने से भी पुनर्जन्म में आस्था उत्पन्न होती है।

7. संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थों में एक श्लोक पाया जाता है, जो प्रायः सर्वमान्य रूप से प्रसिद्ध है। वह निम्न प्रकार है—

25. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 2, सूत्र 25 से 35 (टीकाएँ भी द्रष्टव्य)

“तदर्हजस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।

भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥”²⁶

अर्थात् आत्मा स्वयंसिद्ध सनातन है, क्योंकि इसके अनेक प्रमाण हैं ।
यथा—

(क) तत्काल उत्पन्न हुआ बालक स्तनपान की इच्छा करता है, उसकी यह इच्छा अनादिकालीन पूर्व संस्कारवश ही होती है ।

(ख) व्यन्तरादि देखे जाते हैं, जो अपने और दूसरों के पूर्वजन्मों को बताते रहते हैं ।

(ग) अनेक मनुष्यों को भी अपने पूर्वभव का स्मरण होता देखा जाता है, जो जाँच करने पर सत्य भी होता है ।

(घ) आत्मा कोई पृथिवी आदि पंचभूतों से बना नहीं है, अपितु चैतन्य सत्तारूप सनातन वस्तु है ।

इनसे भी आत्मा के पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की भलीभाँति सिद्धि होती है ।

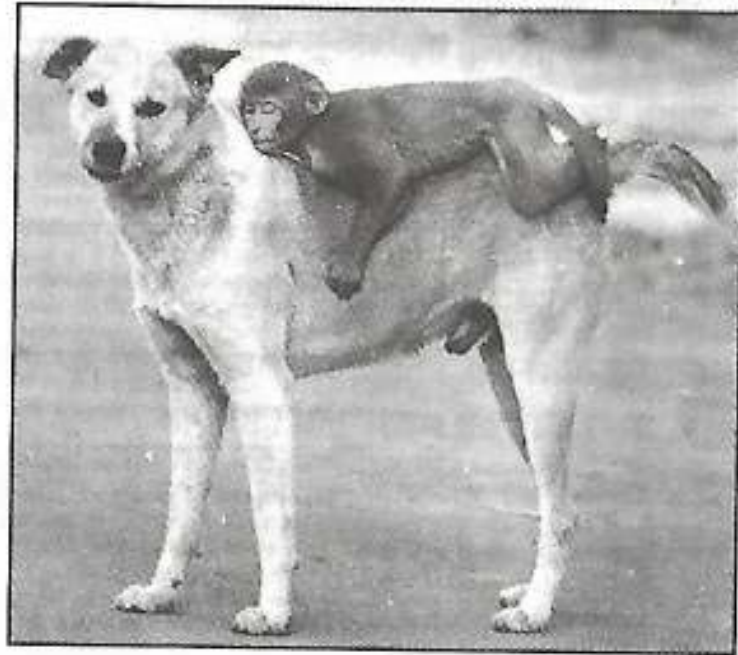
संस्कारवाली बात को यहाँ साधारण नहीं समझना चाहिए । प्रत्येक प्राणी अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुरूप ही दिखाई देता है । किसी विशेष वस्तु, व्यक्ति, विषय या स्थान आदि से प्रीति और किसी अन्य वस्तु, व्यक्ति, विषय या स्थान आदि से भय उत्पन्न होता है— यह अकारण नहीं हो सकता । समान परिस्थितियों में उत्पन्न अनेक पुरुषों में से एक व्यक्ति का मन चित्रकला में अधिक लगता है, दूसरे का युद्धकला में और तीसरे का काव्यकला में— इसमें अवश्य ही पूर्वजन्म के संस्कार कारण होते हैं । इसी प्रकार एक पुत्र माता-पिता की प्राणपन से सेवा करता है और दूसरा पुत्र उनकी हत्या करता है— यह भी अकारण नहीं हो सकता । इसमें भी पूर्वजन्म के संस्कारों की महती भूमिका होती है ।

इतना ही नहीं, कभी-कभी तो जन्मजात विरोधी जीव भी मित्रवत् अनुराग रखते देखे जाते हैं, जो पूर्वजन्म के संस्कारों का ही प्रतिफल प्रतीत होता है ।²⁷ उदाहरणार्थ ‘नवभारत टाइम्स’ (हिन्दी दैनिक, नई दिल्ली) दिनांक

26. प्रमेयरत्नमाला 4/8 की टीका, श्लोक 40

27. “मह्यते कोऽपि पक्ष्यादिर्भक्षकैरपि रक्षितः ।”—वादीभसिंहसूरि, स्याद्वादसिद्धि 1/5

12 फरवरी 2008 में प्रकाशित चित्र को देखा जा सकता है—



स्वामी विवेकानन्द ने तो जीव की इन सभी संस्कारजन्य प्रवृत्तियों को विज्ञान-संगत भी सिद्ध किया है। वे लिखते हैं— “यह पूर्णतया विज्ञान-संगत है, क्योंकि विज्ञान कहता है कि प्रवृत्ति या स्वभाव अभ्यास से बनता है और अभ्यास बारम्बार अनुष्ठान का फल है। इस प्रकार एक नवजात बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का कारण बताने के लिए पुनः पुनः अनुष्ठित पूर्व कर्मों को मानना आवश्यक हो जाता है और चूँकि वर्तमान जीवन में इस स्वभाव की प्राप्ति नहीं की गई, इसलिए वह पूर्व जीवन से ही उसे प्राप्त हुआ है।”²⁸

8. भारतीय वाङ्मय के सर्वाधिक विख्यात ग्रन्थ ‘भगवद्गीता’ में आत्मा के जन्म-मरण को वस्त्र-परिवर्तन की उपमा देकर इस प्रकार समझाया गया है—

“वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥”²⁹

अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्र छोड़कर नये वस्त्र धारण

28. स्वामी विवेकानन्द, हिन्दू धर्म, पृष्ठ 5

29. भगवद्गीता 2/22

कर लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है।

प्रतीत होता है कि शरीर को वस्त्र की उपमा देने की परम्परा भारतीय वाङ्मय में अत्यधिक लोकप्रिय रही है और अनेक विद्वानों ने उसके द्वारा आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को भलीभाँति स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त की है। विख्यात जैन आचार्य पूज्यपाद ने तो लगातार चार श्लोकों में शरीर को वस्त्र की उपमा देते हुए आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान इस प्रकार कराया है—

“घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।

घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।

जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।

नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।

रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥”³⁰

इससे भी पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की सुन्दर सिद्धि होती है।

9. भारतीय संस्कृति में ‘मृत्यु’ के लिए जितने भी पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होता है, वे सभी शरीर और आत्मा के अलग होने को ही ‘मरण’ बताते हैं और सशक्तरूप से आत्मा की अमरता को सिद्ध करते हैं, जिससे पुनर्जन्म की दृढ़ सिद्धि होती है। यथा—

(क) स्वर्गवास— अर्थात् अब वह आत्मा यहाँ न रहकर स्वर्ग में निवास करेगा।

(ख) परलोक-गमन— अर्थात् अब वह आत्मा दूसरे लोक (जन्म/मरण) में चला गया है।

(ग) निधन— अर्थात् अब वह आत्मा इस दुनिया के घर-मकानादिरूप धन से रहित हो गया है।

30. आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र, 63 से 66

(घ) देहान्त— अर्थात् उसके इस देह के संयोग का अन्त हो गया है, स्वयं उस आत्मा का नहीं।

(ङ) देहावसान— अर्थात् उसके देह के संयोग का अवसान (अन्त) हो गया है, आत्मा का नहीं।

(च) गुजर जाना— अर्थात् अब वह यहाँ से आगे चला गया है।

(छ) प्राणान्त— अर्थात् अब उसके इन्द्रियादि प्राण नष्ट हो गये हैं।

(ज) मृत्यु— अर्थात् अब उसकी इस संयोगी पर्याय के प्राणों का नाश हो गया है।

(झ) वैकुण्ठ जाना— अर्थात् उसकी वय (आयु) कुण्ठित (समाप्त) हो गई है, स्वयं आत्मा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा के पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को नहीं मानने का कोई कारण नहीं है। उन्हें मानकर व्यक्ति स्वयं को आध्यात्मिक सन्मार्ग पर निःशंकरूप से लगा सकता है।

इतना ही नहीं, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को मानने से व्यक्ति का लौकिक (व्यावहारिक) जीवन भी क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि की अनेक संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर अत्यन्त उदार एवं विशाल हो जाने से पवित्र बन जाता है। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक के प्रति उसके हृदय में सच्चा स्नेह उत्पन्न हो जाता है। अतः पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को भलीभाँति समझकर, उसमें आस्था अवश्य रखनी चाहिए।

इस प्रकार यद्यपि अनेक तर्कों से आत्मा के पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की भलीभाँति सिद्ध होती है, तथापि जो लोग अभी भी शंकालु हैं, उन्हें और भी अधिक अध्ययन और गहरा चिन्तन करना चाहिए। डॉ. एस. आर. व्यास की पुस्तक 'पुनर्जन्म का सिद्धान्त' भी इस विषय में बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है।³¹

31. प्रकाशक—प्राकृतभारती अकादमी, 13-ए, मुख्य मालवीयनगर, जयपुर-17

आत्मा का स्वरूप
जैन दर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में

जैन दर्शन का केन्द्रिय प्रतिपाद्य : आत्मा

जैनाचार्यों ने इस जगत के स्वरूप को सुस्पष्ट करने के लिए चार अपेक्षाओं से कथन किए हैं। द्रव्य-अपेक्षा से षड्द्रव्य का, क्षेत्र-अपेक्षा से पंचास्तिकाय का, काल-अपेक्षा से नवपदार्थ का और भाव-अपेक्षा से सप्ततत्त्व का। जीव के मुक्तिमार्ग में इन सबका सम्यग्ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; अतएव इन्हें 'प्रयोजनभूत' भी कहा जाता है। भव्यजीवों को इन्हें रत्नमाला के समान धारण कर अपने हृदय की शोभा बढ़ानी चाहिए, जैसा कि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है—

“इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या।

षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम्॥”

अर्थ— इस प्रकार जिनमार्गरूपी समुद्र में से षड्द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यों के कण्ठाभरण हेतु पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक बाहर निकाली है।

जैन आगम में इन सभी षड्द्रव्यादिकों का वर्णन 'पूर्वगत' कहलाता है, जिसका अभिप्राय है कि ये सभी पूर्व (अनादि परम्परा) से ही चले आ रहे हैं। इनका स्वरूप और कथन किसी ने नया नहीं किया है।

जैन दर्शन के अनुसार यह लोक षड्द्रव्यात्मक है— 'षड्द्रव्यात्मको लोकः'। इसके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल— ये छहों द्रव्य (जाति-अपेक्षा 6, संख्या-अपेक्षा अनन्तानन्त) अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। इनका उत्पत्ति-विनाश सर्वथा नहीं होता, मात्र अवस्था-परिवर्तन होता रहता है। ये सभी द्रव्य यद्यपि एक-दूसरे को अवगाहन देते हुए एक-दूसरे में प्रवेश करते रहते हैं, परस्पर मिल भी जाते हैं, परन्तु फिर भी

1. पद्मप्रभमलधारि देव, नियमसार-टीका, कलश 51

2. डॉ. हीरालाल जैन, महावीर : युग और जीवन-दर्शन, पृष्ठ 14

कभी भी कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है। यथा—

“अण्णोण्णं पविस्संता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।

मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥”³

अर्थ— वे छहों द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को अवकाश देते हैं, परस्पर (क्षीरनीरवत्) मिल जाते हैं, तथापि अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। इसे एक उदाहरण द्वारा हम इस प्रकार समझ सकते हैं— एक संगीत-सभा हो रही है। ध्वनियन्त्र (माइक) के माध्यम से सभा में विविध वाद्ययन्त्रों और गायक / गायिका की भी आवाजें पूरी सभा में प्रसरित हो रही हैं। वहाँ वे सभी आवाजें ध्वनियन्त्र के एक पतले से तार में प्रवेश करके ही परस्पर एकमेक होकर ही सर्वत्र हो रही हैं; तथापि ध्यान से देखा जाए तो वे सभी आवाजें पृथक्-पृथक् ही हैं, कोई किसी से मिली नहीं है; इसीलिए प्रबुद्ध श्रोता उन्हें भलीभाँति पहचानते भी हैं कि यह बाँसुरी है, यह ढोलक है, यह हारमोनियम है, इत्यादि।

इसी प्रकार इस लोक में भी सर्व द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते और परस्पर मिलते हुए भी दिखाई देते हैं, पर परमार्थ से सर्वद्रव्य स्वतन्त्र हैं, पृथक्-पृथक् हैं और कोई किसी में कथमपि नहीं मिलता है। जैन दर्शन के इस प्रतिपादन में सर्वद्रव्यों की स्वतन्त्रता का मंगल उद्घोष सुनाई देता है।

षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय, नवपदार्थ और सप्ततत्त्व सम्बन्धी विवेचन को पढ़ते समय एक यह भी बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि उक्त सभी में सर्वप्रथम जीव को गिनाया गया है, जीव को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है; क्योंकि उसे समझना सर्वप्रथम जरूरी है, वही हमारा मूलभूत श्रद्धेय, ज्ञेय, ध्येय है; शेष अन्य सभी को जानने का मूल प्रयोजन भी तो एक जीव को ही जानना है; जैसा कि आचार्य रामसेन ने ‘तत्त्वानुशासन’ में स्पष्टतया लिखा है—

“पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथाम्बरम्।

षड्विधं द्रव्यमाख्यातं तत्र ध्येयतमः पुमान्॥

3. (क) आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, गाथा 7

(ख) भावसाम्य— योगसारप्राभृत 2/2

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते ।

ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥^{१४}

अर्थ—जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश— इस प्रकार द्रव्य के छह भेद कहे गये हैं। उन सबमें एक जीव ही ध्येयतम है। ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है, इसलिए एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ध्येयतम है।

श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने भी अपने समयसारादि ग्रन्थों में एक आत्मा को ही जानने की प्रबल प्रेरणा भव्य जीवों को प्रदान की है।

‘कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ आदि ग्रन्थों में भी इसी अपेक्षा से जीव को सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य और सर्व तत्त्वों में परमतत्त्व या अत्यन्त सारभूत कहा है।^{१५}

इतना ही नहीं, श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने तो अपने आध्यात्मिक ग्रन्थों में यहाँ तक कह दिया है कि जो एक अपने आत्मा को जानता है, वह सब कुछ जानता है; समझ लो कि उसने द्वादशांगरूप सम्पूर्ण जिनवाणी को ही जान लिया है। यथा—

“जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणणमविसेसं ।

अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥”^{१६}

‘जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया’— यह बात कोई भावुकता से भरकर यूँ ही नहीं कह दी गयी है; अपितु पूर्णतया युक्तिसंगत भी है। ‘जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब जान लिया’— इस कथन को परमात्मप्रकाश, दूहा 1/99 की टीका में आचार्य ब्रह्मदेवसूरि ने भलीभाँति 4

4. आचार्य रामसेन, तत्त्वानुशासन, 117-118

5. (क) “उत्तमगुणाण धामं सव्वदव्वाण उत्तम दव्वं ।

तच्चाण परमतत्त्वं जीवं जाणेह णिच्छयदो ॥” — कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 204

(ख) “जीव दरब को कथन सब, कथननि में सिरदार ।”

— द्धानतराय, धर्म-विलास, पृष्ठ 246

(ग) “अर्थसमय में जीव नाम है सार सुनहु सहु ।”

—पं. जयचन्द छाबड़ा, समयसार-वचनिका, मंगलाचरण, 4

(घ) “सार पदार्थ आत्मा, सकल पदार्थ जान ।” — समयसागर नाटक, 1/1

6. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 15

तर्कों द्वारा सिद्ध किया है, जो गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने योग्य है। यथा—

1. सम्पूर्ण लोक में या सर्व ग्रन्थों में सार एक आत्मा ही है, अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

2. आत्मा को जानने पर स्व और पर के भेद से विद्यमान सब कुछ जान लिया जाता है, अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

3. आत्मा को जानने पर श्रुतज्ञानरूप व्याप्तिज्ञान से सर्व लोकालोक जानने में आ जाता है, अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

4. आत्मा को जानने पर शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त होता है जो लोकालोक को जानता है, अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

अतः हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर एक अपने आत्मतत्त्व को ही भलीभाँति जानने का पुरुषार्थ करना चाहिए। हमारी समस्त क्रियाओं का एक मात्र लक्ष्य (प्रयोजन) अपने आत्मा को जानना ही होना चाहिए। यहाँ तक कि स्वाध्याय करते समय भी, ग्रन्थों के विभिन्न विषयों को पढ़ते-सुनते-समझते समय भी, एक अपने आत्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान-ध्यानरूप मूलभूत प्रयोजन का स्मरण सदैव रखना चाहिए।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा के पर्यायवाची शब्द

जैन शास्त्रों में 'आत्मा' के अनेक पर्यायवाची या समानार्थक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम हमें उनको जान लेना चाहिए, क्योंकि उनके द्वारा भी आत्मा का स्वरूप-बोध स्पष्टतर होता है। संक्षेप में आत्मा के कुछ प्रमुख पर्यायवाची इस प्रकार हैं—

(1) जीव— आत्मा के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है। आत्मा जीता था, जीता है और भविष्य में भी सदा काल जीता रहेगा, अतः इसे जीव कहते हैं।⁷ इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तारपूर्वक लिखेंगे।

(2) ज्ञ— आत्मा सदा काल जानता है, आत्मा के अतिरिक्त संसार का कोई भी अन्य पदार्थ जानने का कार्य नहीं करता, इसलिए आत्मा को 'ज्ञ' भी कहते हैं।⁸

(3) ज्ञानी— आत्मा ज्ञान गुण का स्वामी है, उसमें ज्ञान गुण पाया जाता है, उसके अतिरिक्त संसार के किसी भी अन्य पदार्थ में ज्ञान गुण नहीं पाया जाता है, इसलिए आत्मा को 'ज्ञानी' भी कहते हैं।⁹

ध्यान रहे यहाँ 'ज्ञानी' का अर्थ 'विद्वान्' नहीं है, अपितु 'ज्ञान गुण का स्वामी' या 'ज्ञान गुण से सहित' है।

(4) ज्ञाता— आत्मा ज्ञान-क्रिया का कर्ता है, अतः ज्ञाता कहलाता है।¹⁰

7. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 2
8. से 10.

(क) आचार्य वीरसेन, ध्वला, 1/1/2

(ख) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मटसार जीवकाण्ड, 365-366

(ग) आचार्य जिनसेन, महापुराण, 24/103-108

(5) प्राणी— दरअसल, आत्मा दो प्रकार का है— संसारी और मुक्त, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। 'प्राणी' संसारी आत्मा का पर्यायवाची है क्योंकि संसारावस्था में यह आत्मा प्राणों से सहित अथवा प्राणों का धारक होता है। प्राण चार प्रकार के कहे गये हैं— इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इन्द्रियाँ पाँच होती हैं— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण; बल तीन होते हैं— मनबल, वचनबल एवं कायबल; तथा आयु और श्वासोच्छ्वास। इस प्रकार कुल मिलाकर प्राणों की संख्या दस भी कही जाती है। मुक्त आत्माएँ इन सर्व प्राणों से रहित होती हैं, अतः उन्हें 'प्राणी' कहना ठीक नहीं है।¹¹

(6) शरीरी— शरीर-सहित होने के कारण संसारी आत्मा को 'शरीरी' भी कहते हैं।¹²

(7) देही— देह भी शरीर को ही कहते हैं। संसारी आत्मा सदा देह सहित रहता है अतः उसे 'देही' कहते हैं।¹³

(8) जन्तु— चतुर्गतिरूप संसार में जन्म-मरण करते रहने के कारण संसारी आत्मा का एक पर्यायवाची नाम 'जन्तु' भी प्रचलित है।¹⁴

(9) अग्र— 'अग्र' शब्द का अर्थ है— गमन करना या जानना। आत्मा ही ऐसा पदार्थ है जो गमन (परिणमन) भी करता है और जानता भी है; अतः उसे अग्र कहते हैं। छहों द्रव्यों, सातों तत्त्वों और नवों पदार्थों में अग्र अर्थात् प्रधान होने से भी आत्मा को 'अग्र' कहा जाता है।¹⁵

(10) पुरुष— आत्मा का एक नाम पुरुष भी है। पुरु का अर्थ है— ज्ञान या चेतना। जो ज्ञान या चेतना में शयन करे, निवास करे, उसे पुरुष कहते हैं। आत्मा सदैव ज्ञान या चेतना में ही निवास करता है, कभी भी ज्ञानरहित नहीं होता, अतः आत्मा को 'पुरुष' कहते हैं।

11. से 14.

(क) आचार्य वीरसेन, ध्वला, 1/1/2

(ख) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मटसार जीवकाण्ड, 365-366

(ग) आचार्य जिनसेन, महापुराण, 24/ 103-108

15. (क) 'अथवाङ्मति ज्ञानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तिः।'

— रामसेन मुनि, तत्त्वानुशासन, 62

(ख) 'अंगतीत्यग्रमात्मेति वा।'—आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, 9/27/21

‘पुरुष’ शब्द का एक अन्य अर्थ यह भी किया गया है कि जो उत्तम गुणों में शयन करे, उनका भोग भोगे, वह पुरुष है। आत्मा सदैव अपने ज्ञान-आनन्दादि उत्तम गुणों में शयन करता है, अतः इस दृष्टि से भी आत्मा को पुरुष कहते हैं।¹⁶

(11) पुमान्— ‘पुरुष’ की भाँति ‘पुमान्’ का भी अर्थ ‘आत्मा’ ही होता है, क्योंकि जो आत्मा को पवित्र करे, वही तो ‘पुमान्’ है।¹⁷

(12) समय— ‘समय’ शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ होते हैं— काल, युद्ध, मत, अधिकार आदि, परन्तु समयसारादि अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों में ‘समय’ शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया गया है। तदनुसार ‘समय’ शब्द ‘सम् + अय’ से बना है। ‘सम्’ का अर्थ है एक साथ और ‘अय’ का अर्थ है जानना एवं परिणमन करना। विश्व के समस्त पदार्थों में से एक आत्मा ही ऐसा पदार्थ है जो एक साथ जानता एवं परिणमन करता है, अतः आत्मा को ‘समय’ कहते हैं।¹⁸

(13) चेतन— जो पहले भी चेतता (जानता) था, अभी भी चेतता है

16. (क) “अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।”

—आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 9

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित चैतन्यस्वभावी आत्मा ही ‘पुरुष’ है।

(ख) “पुरुषेण पुरुषेण च शेते स्वपितीति पुरुषः।”

—आचार्य वीरसेन, धवला, 1/1/1/101

उत्तम गुणों और उत्तम भोगों में शयन करने के कारण आत्मा को ‘पुरुष’ कहते हैं।

(ग) “पुरुषः पुरुषेण शयनात् परिभाषितः।”

—आचार्य जिनसेन, महापुराण, 24/105

आत्मा उत्तम भोगों में शयन करता है, अतः ‘पुरुष’ है।

17. “पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते।”

—आचार्य जिनसेन, महापुराण, 24/105

18. “‘सम्’ उपसर्ग है जिसका अर्थ ‘एक साथ’ है और ‘अय् गतौ’ धातु है जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है, इसलिए एक साथ ही जानना और परिणमन करना— यह दोनों क्रियाएँ एकत्वपूर्वक करे, वह ‘समय’ है। यह ‘जीव’ नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है इसलिए वह समय है।”

— पण्डित जयचन्द्र छाबड़ा, समयसार-वर्णनिका, गाथा 2

और भविष्य में भी सदा चेतता रहेगा, उसे चेतन कहते हैं और वह आत्मा ही है—

“यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा।

चेततीत्यं यदत्राऽद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्यहम्॥”¹⁹

‘जीव’ और ‘आत्मा’ शब्द की व्युत्पत्ति और उनका विशेष अभिप्राय

शास्त्रों में यद्यपि जीव के उपर्युक्त अनेक पर्यायवाची शब्द गिनाये गये हैं परन्तु प्रयोग, जीव और आत्मा— इन दो शब्दों का ही सर्वाधिक हुआ है, अतः इन दो शब्दों को विशेषरूप से समझना आवश्यक है। ‘जीव’ शब्द की व्युत्पत्ति और अभिप्राय इस प्रकार बताया गया है कि जो जीता है, जीता था और भविष्य में भी जिएगा, वही जीव है। यथा—

“पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुब्बं।”²⁰

अर्थात् जो चार प्राणों से जीता है, जिएगा और पहले जीता था, वह जीव है। अथवा—

“दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् जीवति, अजीवीत्, जीविष्यति इति वा जीवः।”²¹

अर्थात् जो तीनों कालों में जीवन का अनुभवन करनेवाला होने से पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास— इन दस प्राणों में से अपनी पर्यायगत योग्यता के अनुसार गृहीत प्राणों से जीता है, जीता था और जिएगा; वह जीव है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि संसारी जीव ही इन चार या दस प्राणों से जीता है, सिद्ध जीव नहीं; सिद्ध जीव तो अपने चैतन्य-प्राणों से जीते हैं। अतएव बृहद्द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थों में जीव की परिभाषा इस प्रकार लिखी गई है कि जो व्यवहार से इन्द्रियादि प्राणों से जीता है और निश्चय से अपने चैतन्य-प्राणों से जीता है, वह जीव है। यथा—

19. मुनि रामसेन, तत्त्वानुशासन, 156

20. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 147

21. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, 1/4/7

“तिवकाले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।

ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥”²²

‘आत्मा’ शब्द की व्युत्पत्ति और अभिप्राय यह है कि जो सदा ज्ञानादिरूप से गमन (परिणमन, परिवर्तन या उत्पाद-व्यय) करे, वह आत्मा है। ‘आत्मा’ शब्द संस्कृत की ‘अत्’ (अत् सातत्यगमने) धातु से बना है, जिसके दो अर्थ होते हैं— गमन और ज्ञान। यहाँ दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं; जैसा कि वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 57 की टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि ने स्पष्ट किया है—

“अथात्मशब्दार्थः कथ्यते— ‘अत्’ धातु सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते ‘सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था’ इति वचनात्। तेन कारणेन यथासम्भवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः, स आत्मा भण्यते।”

अर्थ— अब ‘आत्मा’ शब्द का अर्थ कहते हैं— ‘अत्’ धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थ में है और ‘सब गमनार्थक धातुएँ ज्ञानात्मक अर्थ में होती हैं’— इस वचन से यहाँ पर ‘गमन’ शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासम्भव ज्ञान-सुखादि गुणों में सर्वप्रकार वर्तता है, वह आत्मा है।

इसी प्रकार का भाव अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रगट किया गया है।²³

जीव और आत्मा में अन्तर

यद्यपि जीव और आत्मा वस्तुतः एकार्थवाची हैं, उन दोनों का स्वरूप एक ही है, उन दोनों के स्वरूप में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है; तथापि प्रयोग के स्तर पर इन दोनों शब्दों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखाई देता है, जिसे समझना यहाँ अत्यन्त लाभदायक होगा।

‘जीव’ शब्द का प्रयोग तब किया जाता है, जब शास्त्रीय, सैद्धान्तिक या दार्शनिक चर्चा होती है, किन्तु आत्मा शब्द का प्रयोग तब किया जाता है, जब

22. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 3

23. (क) “अततं सततं गच्छति व्याप्नोति वा आत्मा।”

—दीनानाथ शुक्ल, भारतीय दर्शन परिभाषा कोश, पृष्ठ 42

(ख) “अत्यते गम्यते ज्ञायते इति यावत्, अत् गतौ मनिष्।”

—नगेन्द्र वसु, हिन्दी विश्वकोश, 1/538

आध्यात्मिक चर्चा हो रही हो। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जीव ज्ञान का विषय है, अध्ययन का विषय है; परन्तु आत्मा ध्यान का विषय है, अनुभूति का विषय है। अथवा इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि जीव विश्वविद्यालयों का विषय है और आत्मा आश्रमों का।

दरअसल, जीव तो हम सभी हैं, पर आत्मा, सिर्फ अपने जीव को, स्वयं को ही कहा जाता है। जिस प्रकार पुरुष तो बहुत हैं, सभी को पुरुष कहा जाता है लेकिन पति, सिर्फ अपने ही पुरुष को कहा जाता है; स्त्रियाँ तो बहुत हैं, सभी को स्त्री कहा जाता है लेकिन पत्नी, सिर्फ अपनी ही स्त्री को कहा जाता है; मकान तो बहुत हैं, सभी को मकान कहा जाता है लेकिन घर, सिर्फ अपने मकान को ही कहा जाता है; उसी प्रकार जीव तो अनन्त हैं, सभी को जीव कहा जाता है, पर आत्मा केवल स्वयं को ही कहा जा सकता है; मैं अपने लिए आत्मा हूँ, पर आपके लिए जीव। इसी प्रकार आप अपने लिए आत्मा हैं, पर मेरे लिए जीव।

‘आत्मा’ शब्द में निजता या अपनत्व का भाव समाविष्ट है; जैसा कि हम आत्मकथा, आत्मप्रशंसा, आत्मश्लाघा, आत्मरक्षा, आत्मनिन्दा, आत्मवंचना, आत्महत्या, आत्महित, आत्मतुष्टि आदि शब्दों के प्रयोगों में भी स्पष्टतया देखते हैं।

जीव और आत्मा के अन्तर को हम गणित की भाषा में इस प्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं कि—

जीव + अपनत्व = आत्मा।

आत्मा — अपनत्व = जीव।

न्यायशास्त्र की शब्दावली में हम जीव और आत्मा के अन्तर को इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते हैं कि आत्मा और जीव में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। आत्मा व्याप्य है, जबकि जीव व्यापक। जो भी आत्मा है, उसको जीव कह सकते हैं, परन्तु जो भी जीव हैं, उनको हम आत्मा नहीं कह सकते, आत्मा सिर्फ अपना जीव है। जिस प्रकार नीम और वृक्ष में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, अतः जो भी नीम है, उसे तो वृक्ष कहा जा सकता है, परन्तु जो भी वृक्ष हैं, उन सबको नीम नहीं कहा जा सकता।

आत्मा का स्वरूप

अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं और आत्मा के स्वरूप को बिन्दुवार ढंग से संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। ध्यातव्य है कि प्रत्येक बिन्दु गहन चिन्तन-मनन की अपेक्षा रखता है—

(1) आत्मा सत् रूप है; उसे असत् रूप, अभावरूप, माया अथवा शून्यरूप नहीं माना जा सकता।

कुछ लोग (चार्वाक) कहते हैं कि वस्तुतः आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, वह तो असत् है, मात्र भूतचतुष्टय के मिश्रण से ही चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति हो जाती है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार गुड़, जौ आदि वस्तुओं के संयोग से उनमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है; उसी प्रकार पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि— इन चार भूतों के संयोग से ही चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो मृत्यु के समय इन चारों के संयोग के बिखर जाने से स्वयमेव नष्ट भी हो जाती है; अतः इन चारों भूतों से अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

लेकिन उनकी मान्यता युक्तिसंगत नहीं है, शास्त्रों में विस्तारपूर्वक इस मत का निराकरण किया गया है। संक्षेप में उसका सार यह है कि चारों भूत अचेतन हैं और अनेक अचेतन मिल कर भी किसी तरह चेतन को उत्पन्न नहीं कर सकते। अचेतन से अचेतन की ही उत्पत्ति हो सकती है, चेतन की कदापि नहीं।

इस विषय में एक तर्क और भी दिया गया है कि भूतचतुष्टय को आप जीव की उत्पत्ति में उपादान कारण मानते हैं या निमित्त? यदि उपादान कारण मानते हैं तो जीव में भी इन चार भूतों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाये जाने चाहिए और फिर उस जीव को भी इन्द्रिय-गोचर होना चाहिए तथा यदि निमित्त कारण मानते हैं तो उपादान कारण कोई दूसरा ही होगा और वह इनसे अलग जीव ही होगा।²⁴

24. "यदि जड़ और जड़ के विकार ही आत्मा, मन, बुद्धि आदि हम जो कुछ हैं, उन सबके उपयुक्त कारण सिद्ध हो सकते तो फिर और स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता ही न रह जाती, पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य का विकास जड़ से हुआ।" —स्वामी विवेकानन्द, हिन्दू धर्म, पृष्ठ 4

(2) आत्मा एक नहीं है, अनन्तानन्त हैं। यद्यपि वे सभी स्वभाव से समान हैं, अतः उन्हें 'एक-जैसे' तो कहा जा सकता है, पर पूरे विश्व में एक ही आत्मा है— ऐसा नहीं कह सकते। यदि सम्पूर्ण विश्व में एक ही आत्मा हो तो सभी जीवों को एक साथ दुःखी, सुखी, बद्ध, मुक्त आदि होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। जिस समय एक जीव सुखी होता है, उसी समय दूसरा जीव दुःखी होता है; एक का जन्म होता है, तो दूसरे का मरण होता है; एक आसक्त होता है, दूसरा विरक्त होता है; एक मिथ्यादृष्टि होता है, दूसरा सम्यग्दृष्टि होता है। सभी के सुख-दुःख आदि के परिणाम अलग-अलग चलते हैं। इससे पता चलता है कि इस लोक में जीवों की संख्या एक नहीं, अनेक है और वे सभी जीव अपना-अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व धारण करते हैं। प्रायः सभी दर्शनों में (वेदान्त को छोड़कर) भी जीवों की संख्या एक नहीं, अनेक स्वीकार की गई है। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में तो अनेक-आत्मवाद को अनेक तर्कों द्वारा सिद्ध भी किया गया है।

(3) प्रत्येक आत्मा एक स्वतन्त्र परिपूर्ण सत्ता है, उसे ब्रह्म या ईश्वर आदि अन्य किसी का भी अंश नहीं माना जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हम सभी आत्माएँ वस्तुतः किसी एक ब्रह्म का अंश हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा एक होता है और सौ घड़ों में दिखाई पड़नेवाले सभी चन्द्रमा उसी एक मूल चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब होते हैं, उसी प्रकार मूल आत्मा एक ब्रह्म है और हम सब उसके प्रतिबिम्ब या अंश हैं।

परन्तु ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक जीव के सुखी-दुःखी होने पर सभी जीवों को सुखी-दुःखी होना चाहिए, एक जीव मुक्त व पूर्ण सुखी हो जाए और अन्य जीव संसार में दुःखी रह जाएँ— ऐसा नहीं होना चाहिए, इत्यादि अनेक आपत्तियाँ आती हैं।

इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द विरचित 'पंचास्तिकायसंग्रह' की संस्कृत-टीका का निम्नलिखित अंश (हिन्दी-अनुवाद) भी ध्यानपूर्वक पठनीय है—

“प्रश्न— जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा बहुत से जल के घड़ों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देता है, वैसे ही एक ही जीव बहुत से शरीरों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देता है।

उत्तर— बहुत से जल के घड़ों में तो वास्तव में चन्द्रकिरणों की उपाधि के निमित्त से जलरूप पुद्गल ही चन्द्राकार रूप से परिणत होता है, आकाशस्थ चन्द्रमा नहीं। जैसे कि देवदत्त के मुख का निमित्त पाकर नाना दर्पणों के पुद्गल ही नाना मुखाकार रूप से परिणमन कर जाते हैं, न कि देवदत्त का मुख स्वयं नानारूप हो जाता है। यदि ऐसा हुआ होता तो दर्पणस्थ मुख-प्रतिबिम्बों को चैतन्यत्व प्राप्त हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसी प्रकार एक चन्द्रमा का नानारूप परिणमन नहीं समझना चाहिए। दूसरी बात यह भी तो है कि उपर्युक्त दृष्टान्तों में तो देवदत्त एवं चन्द्रमा दोनों प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तभी उनका प्रतिबिम्ब दर्पण व जल में पड़ता है, परन्तु 'ब्रह्म' नाम का कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष दिखाई ही नहीं देता जो कि चन्द्रमा की भाँति नानारूप होवे।'²⁵

(4) प्रत्येक आत्मा स्वयं अपने सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता है। कोई भी आत्मा किसी भी अन्य आत्मा के सुख-दुःख से सुखी-दुःखी नहीं होता। इससे प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता भी सिद्ध होती है। यदि यह आत्मा स्वयं अपने सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता न हो और कोई अन्य इसके सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता हो तो यह आत्मा सदा पराधीन सिद्ध हो और कभी कोई आत्मा अपना दुःख मिटाकर सुखी न हो सके।

(5) आत्मा वास्तव में अमूर्तिक सत्तारूप वस्तु है। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भौतिक वस्तुओं के गुण नहीं पाये जाते हैं। जो कुछ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिमान् है, वह सब पुद्गल है।

(6) आत्मा उपयोगमय है, चैतन्यमय है, ज्ञानदर्शनमय है; वह स्वभाव से निरन्तर जानने-देखने का ही कार्य करता है।

यह बिन्दु अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसे विशेष सावधानीपूर्वक समझना चाहिए। आत्मा ज्ञानमय है अर्थात् ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वह उसका अन्तस्तत्त्व है, बाह्यतत्त्व नहीं। ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता, उसे कोई दे या ले नहीं सकता।

इसी प्रकार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् वह सदा सब आत्माओं में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है, कोई भी आत्मा इससे पूर्णतः रहित नहीं

हो सकता। यहाँ तक कि ज्ञानावरण कर्म का प्रबल उदय होने पर भी उसका कभी पूर्णरूप से अभाव नहीं होता। चाहे न्यूनरूप में ही रहे, पर रहता अवश्य है, उसका कभी अभाव नहीं होता, मुक्तावस्था में भी उस ज्ञान का अभाव नहीं होता।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् वह दुःख का कारण नहीं है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं। जो जिसका स्वभाव हो, वह उसके दुःख का कारण कैसे हो सकता है? ज्ञान के साथ यह संसारी आत्मा अपनी गलती से जो कषायभाव (राग-द्वेष) करता है, वे ही दुःख के कारण होते हैं।

आत्मा ज्ञानमय है अर्थात् वह सदा सर्व पदार्थों का मात्र ज्ञाता ही होता है, कर्ता-भोक्ता आदि नहीं हो सकता।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है, उसके अतिरिक्त जो मोह-राग-द्वेषादि होते हैं, वे उसके स्वभाव नहीं, विभाव हैं। इसकी विस्तृत चर्चा आगे करेंगे।

(7) प्रत्येक आत्मा में एक संकोच-विस्तार नाम की शक्ति होती है, जिससे वह धारण किये हुए अपने शरीर के अनुसार संकुचित या विस्तृत हो जाता है। चींटी के शरीर में चींटी जितना संकुचित हो जाता है और हाथी के शरीर में हाथी जितना विस्तृत।

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश कक्ष के आकार के अनुसार संकुचित या विस्तृत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने शरीर के अनुसार सहज ही संकुचित या विस्तृत हो जाता है।²⁶

आत्मा में संकोच-विस्तार की यह शक्ति, हम सब स्वयं भी साक्षात् अनुभव करते हैं। बालक अवस्था से लेकर वृद्धावस्था तक शरीर में लघुता-दीर्घता या कृशता-स्थूलता आदि होने पर, आत्मा में भी वैसा ही संकोच-विस्तार सहज ही होता रहता है।²⁷

26. "प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।" — आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 5/16

27. (क) आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार-टीका, 137

(ख) पण्डित आशाधरसूरि, अनंगारधर्माभूत, 2/31

ध्यान रहे कि आत्मा छोटा-बड़ा नहीं होता, वह तो एक जैसा ही होता है किन्तु उसमें रबर-जैसी संकोच-विस्तार की एक ऐसी शक्ति (Elasticity) है जिससे वह प्राप्त शरीर के अनुसार संकुचित या विस्तृत हो जाता है।

मुक्तावस्था में आत्मा जब शरीररहित हो जाता है, तब उसका परिमाण अन्तिम शरीर के अनुरूप रहता है।²⁸

कुछ लोग आत्मा को अणु-परिमाण या वट कणिका मात्र आदि मानते हैं,²⁹ परन्तु वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सभी प्राणियों को सुख-दुःखादि की अनुभूति सर्वात्मप्रदेशों से होती देखी जाती है। यदि आत्मा अणु-परिमाण होता तो उसे शरीर के उसी भाग में होनेवाली संवेदना का अनुभव हो पायेगा जिस भाग में वह रहेगा। अतः आत्मा को अणु-परिमाण मानना ठीक नहीं है।

इसी प्रकार कुछ लोग आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, कहते हैं कि आत्मा आकाश की तरह अमूर्त द्रव्य है अतः आकाश की तरह सर्वव्यापक भी है, परन्तु वह भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सभी को अपने ही शरीर में सुख-दुःखादि की प्रतीति होती है, उससे बाहर दूसरे के शरीर में और अन्यत्र कहीं किसी स्थान पर नहीं।

दरअसल आत्मा को सर्वलोकव्यापी कहने का एक समीचीन अभिप्राय यह हो सकता है कि वह सर्वलोक को जान सकता है। अतः वह जानने की अपेक्षा सर्वव्यापक है, न कि आकार की अपेक्षा। इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है—

28. (क) आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 5/16

(ख) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 10

29. (क) “एसो अणुरात्मा।” —मुण्डकोपनिषद् 3/1/9

(ख) “अंगुष्ठमात्रः आत्मा।” —कठोपनिषद् 2/6/17

(ग) “बालाग्रप्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः।”

—श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/9

(घ) “एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा, एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अन्तरिक्षाद् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।”

—छान्दोग्योपनिषद् 3/14/3

“आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सब्बगदं ॥”³⁰

अर्थात् आत्मा ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण कहा गया है तथा ज्ञेय लोकालोक है इसलिए ज्ञान सर्वव्यापक है।

यदि वस्तुतः ही आत्मा सर्वव्यापक हो तो भोजनादि व्यवहार में भी संकर (मिश्रण) दोष आता है। यथा— एक व्यक्ति खाएगा तो सबको उसका रसास्वादन होना चाहिए।³¹

आत्मा के नौ विशेष गुण

आत्मा के स्वरूप को, और अधिक स्पष्टता एवं सुगमता से समझने के लिए हमें आत्मा के नौ विशेष गुणों को भलीभाँति समझना चाहिए, जिनका विस्तृत वर्णन-विवेचन विशेषरूप से जैन-ग्रन्थों में ही पाया जाता है। वहाँ इन्हें जीव के नौ अधिकार भी कहा जाता है।³² संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

(1) जीवत्व— आत्मा सदा जीवित रहता है। संसार अवस्था में वह इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास— इन चार प्राणों से जीवित रहता है— यह व्यवहार है, परन्तु निश्चय से वह सदा अपने चैतन्य प्राणों से जीवित रहता है, जिनका कभी भी, मुक्तावस्था में भी अभाव नहीं होता।³³

(2) उपयोगमयत्व— आत्मा उपयोगमय है। ‘उपयोग’ का अर्थ यहाँ पारिभाषिकरूप से ‘चेतना’ ही ग्राह्य है। चेतना या उपयोग दो प्रकार का है— दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। इन दोनों के पुनः अनेक भेद-प्रभेद होते हैं, जिनकी चर्चा यहाँ स्थानाभाव से सम्भव नहीं है, किन्तु इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि जैनाचार्यों ने इस उपयोग या चेतना को ही जीव या आत्मा का वास्तविक लक्षण कहा है, क्योंकि यह संसारी (निगोदिया) से लेकर सिद्ध तक सभी जीवों में हर अवस्था में अनिवार्यतः पाया जाता है, कभी भी किसी

30. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 23

31. आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 570

32. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 2

33. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 3

भी जीव में इसका पूर्णतः अभाव नहीं होता, तथा जीव से भिन्न अजीव पदार्थों में कदापि नहीं पाया जाता। यथा—

‘उपयोगो लक्षणम्।’³⁴

‘चेतनालक्षणो जीवः।’³⁵

(3) **अमूर्तिकत्व**— आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है; उसमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण आदि नहीं पाये जाते। यद्यपि संसारावस्था में कर्मबद्ध होने के कारण वह मूर्तिक भी कह दिया जाता है।³⁶

(4) **कर्तृत्व**— आत्मा निश्चय से अपने भावों का ही कर्ता है, अन्य के भावों का नहीं, परन्तु व्यवहार से उसे पुद्गलकर्मों का कर्ता भी कहा जाता है।³⁷

(5) **स्वदेहपरिमाणत्व**— संसारावस्था में यह आत्मा सदैव अपने शरीर के बराबर रहता है, छोटे शरीर में छोटा और बड़े शरीर में बड़ा। यद्यपि आत्मा कोई छोटा-बड़ा नहीं होता, तथापि उसमें एक ऐसी ही संकोच-विस्तारशक्ति पायी जाती है। मुक्तावस्था में यह आत्मा अपने अन्तिम शरीर के बराबर रहता है।³⁸

(6) **भोक्तृत्व**— आत्मा निश्चय से अपने शुद्धाशुद्ध भावों का और व्यवहार से पुद्गलकर्मों का भोक्ता है।³⁹

(7) **संसारित्व**— अनादिकाल से अशुद्धावस्था में यह आत्मा संसार में रहता है और निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है— ऐसी अवस्था को संसारित्व कहते हैं।⁴⁰

34. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 2/8

35. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 1/4

36. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 7

37. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 8

38. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 10

39. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 9

40. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 11-13

(8) सिद्धत्व— पूर्ण शुद्धावस्था या मुक्तावस्था प्राप्त होने पर यह आत्मा सिद्ध हो जाता है। सर्वज्ञ, वीतराग और परमसुखी अवस्था में अनन्त काल तक रहता है, पुनः संसार में नहीं आता।⁴¹

(9) ऊर्ध्वगमनस्वभावत्व— यह आत्मा यद्यपि संसारावस्था में कर्माधीन होने के कारण अधोगमन एवं तिर्यक्गमन भी करता दिखाई देता है, परन्तु इसका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना ही है— अग्निशिखावत्।⁴²

आत्मा के इन नौ अधिकारों को आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने एक ही गाथा में कुशलतापूर्वक इसप्रकार समाहित करके प्रस्तुत किया है—

“जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगदी॥”⁴³

आत्मा के इन नौ अधिकारों को भलीभाँति समझ लेने पर आत्मा सम्बन्धी सर्व अज्ञान दूर हो जाता है।

41. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 14

42. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 10/7

43. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 2

आत्मा के भेद-प्रभेद

अब हम आत्मा के भेद-प्रभेदों की भी संक्षेप में चर्चा करना चाहते हैं, ताकि आत्मा का स्वरूप कुछ और स्पष्ट हो सके।

आत्मा के भेद-प्रभेदों की चर्चा जैन शास्त्रों में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उपलब्ध होती है— (1) शास्त्रीय दृष्टि से और (2) आध्यात्मिक दृष्टि से। यहाँ हम संक्षेप में दोनों ही को प्रस्तुत करना उचित समझते हैं। यह तो हम ऊपर भलीभाँति स्पष्ट कर ही चुके हैं कि जिसे शास्त्रीय दृष्टि से 'जीव' कहा जाता है, उसी को आध्यात्मिक दृष्टि से 'आत्मा' कहते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से जीव के भेद-प्रभेद कुछ इस प्रकार समझाये गये हैं कि जीव दो प्रकार के हैं— संसारी और मुक्त।⁴⁴ जो संसार में परिभ्रमण करते हैं, वे जीव संसारी हैं और जो उससे मुक्त हो गये हैं, वे शुद्ध-बुद्ध जीव मुक्त हैं। मुक्त जीवों के कोई और भेद-प्रभेद नहीं हैं, क्योंकि वे सब एक-से होते हैं परन्तु संसारी जीवों के पुनः दो भेद होते हैं— स्थावर और त्रस।⁴⁵ स्थावर जीव मात्र एक इन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) के धारक होते हैं अतः एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं और वे पाँच प्रकार के होते हैं— पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।⁴⁶

यहाँ एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि बहुत से लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति का अनाप-शनाप दोहन करते हैं, जो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करने से पर्यावरण तो प्रदूषित या असन्तुलित होता ही है, जीव-हिंसा भी बहुत होती है क्योंकि ये पाँचों स्वयं भी जीव हैं और उनके

44. "संसारिणो मुक्ताश्च।" — आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 2/10

45. "संसारिणस्त्रसस्थावराः।" — आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 2/12

46. "पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।" — आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 2/13

अन्दर भी असंख्य जीव रहते हैं।

त्रस जीव चार प्रकार के होते हैं— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय⁴⁷ स्पर्शन और रसना— इन दो इन्द्रियों के धारक जीव को द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे— कृमि, लट, सीप, शंख, गण्डोला आदि। स्पर्शन, रसना और घ्राण— इन तीन इन्द्रियों के धारक जीव को त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे— चींटी, जूँ, खटमल, दीमक, इल्ली, झींगुर आदि। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु— इन चार इन्द्रियों के धारक जीव को चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे— मक्खी, मच्छर, भ्रमर, पतंगा, टिड्डी, ततैया आदि। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण— इन पाँचों इन्द्रियों के धारक जीव को पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे— गाय, भैंस, चिड़िया, कबूतर, शेर, बन्दर, देव, मनुष्य आदि⁴⁸

पंचेन्द्रिय जीवों को भी पुनः चार प्रकार से समझना चाहिए⁴⁹—

(1) नारकी— ये सभी अधोलोक में स्थित नरक भूमियों में निवास करते हैं और सदैव अपनी अशुभ क्रियाओं और मलिन परिणामों से महादुःखी रहते हैं⁵⁰

(2) तिर्यच— समस्त पशु, पक्षी, वृक्ष आदि। ये भी वध, बन्धन, छेदन, भेदन आदि के अपार दुःख सहते हैं और किसी से कह भी नहीं सकते।

(3) मनुष्य— हम, आप आदि। हम सभी लोक के मध्य भाग में निवास करते हैं।

(4) देव— ये प्रायः स्वर्गों में निवास करते हैं और चार प्रकार के होते हैं— भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक⁵¹

47. “द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।” —आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 2/14

48. “कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि।”

—आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 2/23

49. “गतिश्चतुर्भेदा नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति।”

—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 2/6

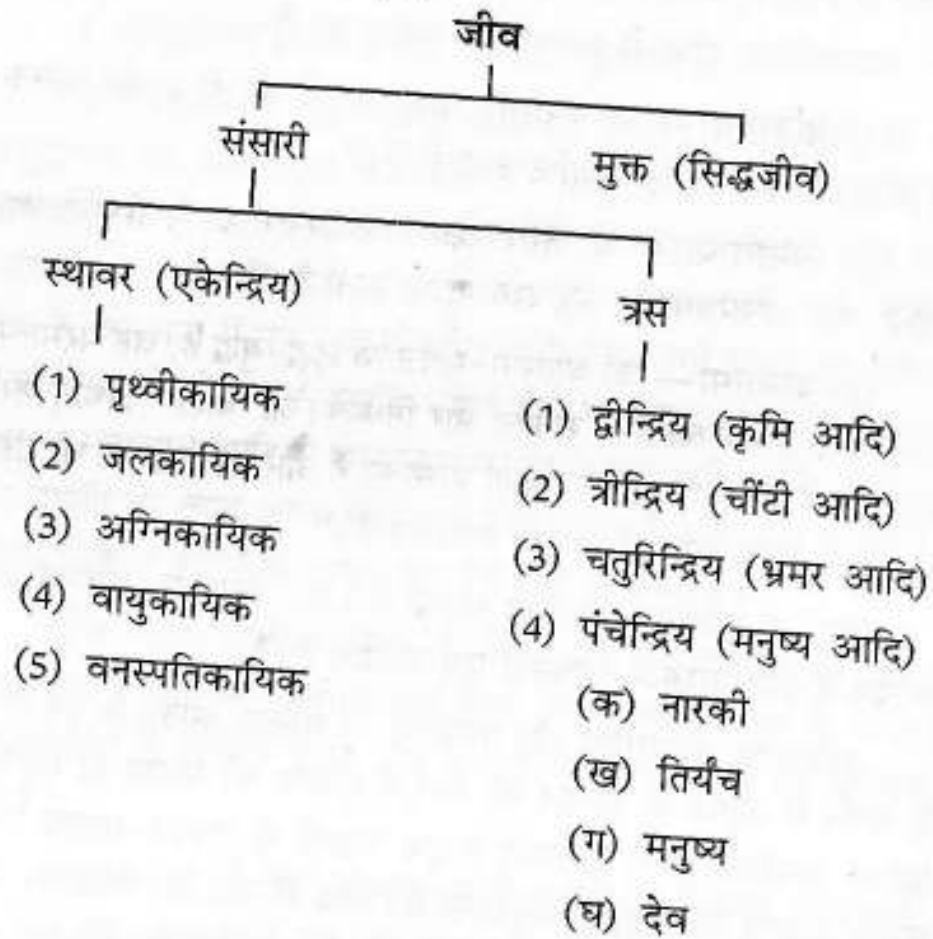
50. “नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः।”

—आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 3/3

51. “देवाश्चतुर्णिकायाः।” —आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 4/1

72 :: भारतीय दर्शनों में आत्मा एवं परमात्मा

जीव के उक्त समस्त भेद-प्रभेदों को संक्षेप में निम्नलिखित सारिणी से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है—



यहाँ यह सर्वथा नहीं भूलना चाहिए कि उक्त सभी जीव, स्वभाव की दृष्टि से एक जैसे हैं, समान हैं, उनमें छोटे-बड़े आदि का कोई अन्तर नहीं है; मात्र बाह्य अवस्था या पर्यायदृष्टि से ही जीव के इतने भेद-प्रभेद समझाये गये हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से उक्त सर्व भेद-प्रभेदों को भलीभाँति समझ लेने के बाद अब आध्यात्मिक दृष्टि से भी आत्मा के भेद-प्रभेद समझना उपयोगी है।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के भेद-प्रभेदों का वर्णन मुख्य रूप से आचार्य कुन्दकुन्द कृत नियमसार (गाथा 149-150), मोक्षपाहुड (गाथा 4-8), रयणसार (गाथा 14), कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा 193-194), और मुनिराज योगीन्दु देव कृत परमात्मप्रकाश (दूहा 1/13-15) व योगसार (दूहा 7-8)

आदि में मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी प्रायः सभी आध्यात्मिक ग्रन्थों में ऐसा ही मिलता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा तीन प्रकार का है—

(1) **बहिरात्मा**— जो शरीरादि बाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानता है, वह बहिरात्मा है। यह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।⁵²

(2) **अन्तरात्मा**— जो शरीर-आत्मा के अन्तर को भलीभाँति पहचान लेता है, वह अन्तरात्मा है। यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है।⁵³

(3) **परमात्मा**— जो वीतराग-सर्वज्ञ या शुद्ध-बुद्ध है, वह परमात्मा है। परमात्मा दो प्रकार का है— सकल और निकल। जो 'कल' अर्थात् शरीर से सहित हैं, वे अरहन्त भगवान सकल परमात्मा हैं और जो शरीर से भी रहित हो चुके हैं, वे सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं।⁵⁴

इनमें से बहिरात्म-अवस्था सर्वथा हेय है, अन्तरात्म-अवस्था एकदेश उपादेय है और परमात्म-अवस्था पूर्ण उपादेय है।⁵⁵

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा — वस्तुतः आत्मा के इन तीन भेदों के वर्णन में आत्मा के उत्थान की सम्पूर्ण प्रक्रिया भी समझा दी गई है। यह आत्मा अनादिकाल से शरीरादि बाह्य पदार्थों में एकत्व-ममत्व करने के कारण अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। बाद में जब यह तत्त्वज्ञान के द्वारा सर्व बाह्य पदार्थों को अपने से भिन्न जानता है और अन्तर में विद्यमान ज्ञानस्वभावी निजतत्त्व को ही अपना मानता है तब अन्तरात्मा बनता है। इसके बाद यह अन्तरात्मा भी और अधिक पुरुषार्थ करता हुआ शनैः-शनैः अपने राग-द्वेषादि सर्व विकारी भावों को पूर्णतः नष्ट कर देता है तो परमात्मा कहलाता है। पहले सकल परमात्मा बनता है और बाद में शरीर से भी रहित हो जाने के कारण निकल परमात्मा कहलाता है।

52. मुनिराज योगीन्दु, योगसार, 10

53. मुनिराज योगीन्दु, योगसार, 8

54. मुनीराज योगीन्दु, योगसार, 9

55. "अत्र बहिरात्मा हेयः उपादेयभूतस्यानन्तसुखसाधकत्वादन्तरात्मोपादेयः परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः।" — ब्रह्मदेवसूरि, वृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका, 14

आत्मा की उक्त तीन अवस्थाओं को हम संक्षेप में केवल इन दो अवस्थाओं के रूप में भी सरलतया समझ सकते हैं—

1. अशुद्धात्मा (मलिनात्मा), और 2. शुद्धात्मा।

अनादिकाल से यह आत्मा मोह-राग-द्वेषादि सहित होने के कारण अशुद्धात्मा या मलिनात्मा कहलाता है। जिस प्रकार स्वर्ण-पाषाण अपने जन्मकाल से ही किट्टि-कालिमा सहित होने से अशुद्ध होता है और बाद में स्वर्णकार, अग्नि आदि उचित निमित्तों का संयोग पाकर शनैः-शनैः शुद्ध होता जाता है, जो अन्त में पूर्ण शुद्ध हो जाता है।⁵⁶ ठीक उसी प्रकार यह आत्मा भी अनादिकाल से मोह-राग-द्वेषादि सहित होने से अशुद्ध रहता है और बाद में सद्गुरु, सत्शास्त्र आदि से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर, शनैः-शनैः अपने मोह-राग-द्वेषादि का त्याग करता हुआ शुद्ध होने लगता है और अन्त में अपने सर्व रागादि विकारों का पूर्णतः त्याग कर पूर्ण शुद्ध हो जाता है।

चूँकि स्वर्ण-पाषाण अचेतन है, अतः उसे अशुद्धावस्था में दुःख और शुद्धावस्था में सुख का अनुभव नहीं होता, परन्तु आत्मा चेतन है, अतः उसे अशुद्धावस्था में अत्यन्त दुःख और शुद्धावस्था में परमसुख का अनुभव भी होता है।

अशुद्धावस्था में यह आत्मा अपनी गलती से निरन्तर परपदार्थों को इष्टानिष्ट मान कर उनसे राग-द्वेष करता है और यही इसके सर्व दुःखों का मूल कारण है। इसी से यह अनादिकाल से इस संसार में जन्म-मरणादिक दुःख सहता हुआ भटक रहा है। अब यदि इसे समीचीन तत्त्वज्ञान हो जाए तो यह कहीं भी राग-द्वेष न करे और पूर्ण सुखी हो जाए।

स्वर्ण-पाषाण को शुद्ध करने हेतु स्वर्णकार, अग्नि, गन्धक आदि अनेक बाह्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, परन्तु आत्मा को शुद्ध करने हेतु परमार्थ से किसी बाह्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती, सद्गुरु और सत्शास्त्र भी मात्र मार्गदर्शक के रूप में निमित्तमात्र होते हैं।

56. (क) आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, 2

(ख) आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत, 9/53

आत्मा को शुद्ध करने के लिए सर्वप्रथम तो आत्मा के ज्ञानादि असली स्वभावों का और रागादि विभावों का अन्तर जानना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक यह आत्मा अपने ज्ञान-स्वभाव में और रागादि विभावों में भेद/अन्तर नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी ही रहता है⁵⁷ और आत्मा की शुद्धता के मार्ग में बिल्कुल आगे नहीं बढ़ सकता है।

अतः सर्वप्रथम ज्ञानादि स्वभावों और रागादि विभावों के अन्तर को भलीभाँति पहचानना चाहिए। तदनन्तर रागादि विभावों को अशुचि, अध्रुव, दुःखरूप एवं दुःख का कारण आदि जान कर उनसे निवृत्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिए।⁵⁸ यही आत्मशुद्धि का समीचीन मार्ग है, अन्य कोई नहीं। यही कहा भी है—

“आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्ध्यति नान्यतः।
अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदृशोऽखिलः॥
स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा।
परद्रव्यबहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा।”⁵⁹

अर्थात् वास्तव में आत्मा आत्मज्ञान से ही शुद्ध होता है, किसी अन्य से नहीं। जो लोग किसी अन्य चीज से आत्मशुद्धि चाहते हैं, वे सब विपरीतदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) हैं। आत्मा परद्रव्य से बहिर्भूत है, अतः किसी भी प्रकार के परद्रव्य से— चाहे वह मलिन हो या निर्मल— स्पर्शित और शुद्ध नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग समझते हैं कि अमुक तीर्थादि में जाकर स्नानादि करने से आत्मा शुद्ध होता है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। स्नानादि से चर्ममल (बाह्य मैल) तो कदाचित् दूर हो सकता है, पर कर्ममल कदापि नहीं। कर्ममल धोने के लिए तो आत्मारूपी नदी में सम्यग्ज्ञानरूपी जल से ही स्नान करना होता है।

वही ‘महाभारत’ में भी कहा है—

“आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥”

57. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 69-70

58. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 72

59. आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत, 6/28-29

अर्थात् हे पाण्डवो ! संयमरूपी जल से परिपूर्ण, शीलरूपी किनारों वाली और दयारूपी तरंगों वाली इस आत्मा-नदी में स्नान करो। इसी से आत्मा शुद्ध होता है, अन्य किसी जल आदि से आत्मा शुद्ध नहीं होता।

अथवा और भी ऐसा ही कहा है—

“आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञानवारिणा चारुणा।

येन निर्मलतां याति जनो जन्मान्तरेष्वपि ॥”

अर्थात् आत्मा को सदैव पवित्र ज्ञानजल से स्नान कराओ, ताकि जन्मान्तरों में भी निर्मलता प्राप्त हो जाए।

इसी प्रकार आचार्य अमितगति ने भी कहा है कि जो लोग आत्मशुद्धि के लिए अपने निर्मल आत्मतीर्थ को छोड़कर, अन्य तीर्थ की ओर देखते हैं, वे मानों पवित्र सरोवर को छोड़कर गन्दे नाले में स्नान करते हैं, अतएव सदा मलिन ही रहते हैं। यथा—

“स्वतीर्थमलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद् भजन्ति ये।

ते मन्ये मलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले ॥”⁶⁰

सारांश यह है कि आत्मशुद्धि का उपाय परमार्थ से एक आत्मानुभूति ही है, अन्य कुछ नहीं। आत्मानुभूति से ही आत्मशुद्धि का प्रारम्भ होता है, आत्मानुभूति से ही आत्मशुद्धि की वृद्धि होती है और आत्मानुभूति की पूर्णता से ही आत्मशुद्धि की पूर्णता भी होती है।

60. आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत, 6/25

आत्मा की अनुभूति और उसका उपाय

आत्मशुद्धि में आत्मानुभूति की महत्वपूर्ण भूमिका का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। यही कारण है कि शास्त्रों में आत्मा की अनुभूति करने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। कहा गया है कि सच्ची सुख-शान्ति आत्मानुभूति से पहले कैसे भी प्राप्त नहीं हो सकती। सच्ची सुख-शान्ति तो दूर, आत्मानुभूति हुए बिना तो कोई व्यक्ति भले ही आत्मा के बारे में कितनी ही विस्तारपूर्वक जानकारी रखता हो, आत्मज्ञानी भी नहीं कहला सकता। आत्मानुभूति से पहले होनेवाली उसकी सारी जानकारी और सारी सुख-शान्ति वास्तव में मात्र ऊपरी-ऊपरी ही है।

दरअसल, आत्मा के बारे में जानना अलग बात है और आत्मा को जानना अलग बात है। आत्मानुभूति के बिना हम आत्मा के बारे में तो बहुत कुछ जान लेते हैं— शास्त्रों या गुरुओं के माध्यम से, पर आत्मा को यथार्थ जानना तो आत्मानुभूति से ही सम्भव है, अतः शास्त्रों में आत्मानुभूति पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। आत्मानुभूति होने पर ही जीव को सच्चा आत्मज्ञान हुआ कहा जाता है और तभी उसे सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त होती है; अतः कैसे भी कोटि उपाय करके भी जीवन में आत्मानुभूति अवश्य करनी चाहिए।⁶¹ आत्मानुभूति करके ही हम अध्यात्मविद्या का प्रथम पाठ पढ़े हुए कहला सकते हैं।

आत्मानुभूति की प्रेरणा देते हुए 'समयसार' की आत्मख्याति टीका में तो मुहावरे की भाषा में यहाँ तक कह दिया गया है कि हे भाई! तुम कैसे भी करके, मरकर भी आत्मानुभूति करो, तभी तुम्हारे मोहादि विकारों का सही रूप में विनाश होगा। यथा—

61. "कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनो।"—कविवर दौलतराम, छहढाला, 4/9

“अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्,
 अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
 पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
 त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥”⁶²

अर्थ— अरे, कैसे भी मर कर भी तत्त्व के कौतूहली बन कर, एक मुहूर्त के लिए शरीरादि के पड़ौसी बन कर उन शरीरादि से सर्वथा पृथक् अपने आत्मा का शीघ्र अनुभव करो, ताकि तुम्हारा शरीरादि परपदार्थों से मोह छूट जाए।

इस आत्मानुभूति को जीवन में कभी एक बार कुछ क्षणों के लिए ही कर लेना पर्याप्त नहीं है, अपितु जितना अधिक हो सके, उतना बारम्बार उसका आनन्द लेना चाहिए। जब तक हमारा उपयोग पूरी तरह आत्मा में ही लीन न हो जाए, सदा-सदा के लिए आत्मा में ही मग्न न हो जाए, कभी बाहर आने की सम्भावना ही न रहे; तब तक आत्मानुभूति को वृद्धिगत करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। शास्त्रों में तो इस आत्मानुभूति को सदा काल निरन्तर करने का उपदेश दिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

“एदमिह रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदमिह।
 एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं॥”⁶³

अर्थात् सदैव इस आत्मा में ही रत रहो, इस आत्मा में ही सन्तुष्ट रहो और इस आत्मा में ही तृप्त रहो; इसी से तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

‘भगवद्गीता’ में भी इसी प्रकार कहा गया है—

“यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
 आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥”⁶⁴

अर्थात् जो मनुष्य आत्मा में ही रति करता है, आत्मा में ही तृप्त होता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है; उसे कुछ भी कार्य करना शेष नहीं है।

आत्मानुभूति पर जोर देते हुए शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि आत्मानुभूति ही सर्व धर्म का मूल है और इसी से धर्म का प्रारम्भ होता है,

62. आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति-टीका, कलश 23

63. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 206

64. भगवद्गीता, 3/17

इसके बिना नहीं। आत्मानुभूति के बिना कोई कितनी ही बाह्य धर्म-क्रियाएँ करे, उसे धर्म और धर्मजन्य फल प्राप्त नहीं होता। जो जीव, आत्मा को अनुभव करके जानता है, समझ लीजिए कि उसने सब कुछ जान लिया, सम्पूर्ण शास्त्र जान लिये, सारा लोकालोक ही जान लिया, वह एक दृष्टि से मुक्त ही हो गया। किन्तु जिसने आत्मा का अनुभव नहीं किया, वह दुनिया भर की विद्याओं या सर्व शास्त्रों का पण्डित होते हुए भी अज्ञानी ही है। अतः आत्मा की अनुभूति जीवन की सबसे पहली और अनिवार्य आवश्यकता है, व्यक्ति को लाख कार्य छोड़कर भी, कोटि उपाय करके भी आत्मा का अनुभव अवश्य करना चाहिए। जब तक आत्मा का अनुभव नहीं होगा, तब तक सच्चे सुख के मार्ग पर जरा भी आगे नहीं बढ़ा जा सकेगा।⁶⁵

आत्मा की इस अनुभूति का क्या उपाय है अथवा यह किस प्रकार होती है— इस पर भी आध्यात्मिक ग्रन्थों में सुन्दर प्रकाश डाला गया है। उसमें सर्वप्रथम तो दृढ़तापूर्वक यह कहा गया है कि यह आत्मानुभूति किसी भी बाह्य साधन या शरीरादि की क्रियाओं के आलम्बन से कदापि सम्भव नहीं है, अपितु मात्र एक अपने ज्ञानस्वभाव के ही आलम्बन से सम्भव है।⁶⁶

आत्मा की अनुभूति के लिए साधक को इस प्रकार की भावना करनी चाहिए कि जो ज्ञाता-द्रष्टा है, वही मैं हूँ, शेष सभी भाव मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।⁶⁷

भिन्नता की ऐसी सम्यक् भावना ही वस्तुतः आत्मानुभूति का सही उपाय है। भिन्नता की यह भावना क्रम-क्रमपूर्वक भी आगे बढ़ाई जा सकती है। जैसे सर्व प्रथम इस स्थूल शरीर से स्वयं को भिन्न देखना, उसके बाद सूक्ष्म शरीरों से भी स्वयं को भिन्न देखना और उसके बाद रागादि भावकर्मों से भी स्वयं को भिन्न देखना।

65. (क) आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार 15-17 (टीका भी देखें)

(ख) मुनिराज योगीन्दु, परमात्मप्रकाश 1/99 (टीका भी देखें)

(ग) कविवर दौलतराम, छहढाला 4/9

(घ) मुनिराज योगीन्दु, योगसार 53

(ङ) आचार्य ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी 54-58

66. (क) आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 205

(ख) आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति टीका, कलश 143

67. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 298-299

इस प्रकार जब यह जीव स्वयं को सम्पूर्ण परपदार्थों और अपने रागादि विकारी भावों से भी भिन्न मात्र एक चैतन्य रूप जानता है, अनुभव करता है, तब उसकी इसी अवस्था को आत्मानुभूति की अवस्था कहते हैं। आत्मानुभूति के काल में हमारा ज्ञान मात्र आत्मा को ही जानता है, अन्य किसी भी बाह्य पदार्थ को नहीं जानता, इन्द्रिय-मन का व्यापार भी उस समय रुक जाता है, अतः इसे आत्मलीनता भी कहते हैं।⁶⁸ यह आत्मलीनता यद्यपि प्रारम्भ में बहुत ही कम समय के लिए होती है, परन्तु अभ्यास करते-करते इसका काल बढ़ता चला जाता है, जो अन्त में पूर्ण हो जाता है।

आत्मानुभूति को स्वसंवेदनज्ञान, आत्मदर्शन, परमात्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मध्यान, आत्मसमाधि, आत्मरसपान, आत्मोपलब्धि, तत्त्वोपलब्धि, शुद्धोपयोग, निर्विकल्प आत्मभावना आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

आत्मानुभूति को ही आत्मप्राप्ति अर्थात् आत्मा की प्राप्ति भी कहा जाता है, परन्तु ध्यान रहे कि आत्मा हमसे स्वयं से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है, जिसकी हमें आत्मानुभूति के काल में प्राप्ति होती हो। वस्तुतः आत्मा को जानना या अनुभवना ही आत्मा की प्राप्ति है। अनादिकाल से हम स्वयं आत्मा होते हुए भी उसको जानते नहीं थे और अब जान गए हैं— इसी का अर्थ है आत्मा की प्राप्ति होना। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के घर में धन हो, पर उसे पता न हो तो वह निर्धनवत् जीवनयापन करता है तथा पता चल जाने पर कहा जाता है कि अब उसे धन की प्राप्ति हो गई है; उसी प्रकार आत्मा तो सदा ही है, स्वयं ही है, प्राप्त ही है, परन्तु जब तक उसका ज्ञान नहीं होता तब तक हम दुःखी रहते हैं और ज्ञान होने पर सुखी हो जाते हैं तो कहा जाता है कि अब हमें आत्मा की प्राप्ति हो गई है। शास्त्रों में भी जब ऐसा उपदेश दिया जाता है कि हे भव्य जीवो, तुम आत्मा की प्राप्ति करो तो उसका अभिप्राय मात्र यही होता है कि तुम आत्मा को जानो, उसका अनुभव करो।⁶⁹

68. (क) आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, टीका 144

(ख) मुनि रामसेन, तत्त्वानुशासन 172

69. इस सन्दर्भ में डॉ० हुकमचन्द्र भारिल्ल का निबन्ध 'भगवान् आत्मा और उसकी प्राप्ति का उपाय' पठनीय है। देखिये उनकी पुस्तक 'आत्मा ही है शरण', पृष्ठ 71-88 (प्रकाशक : पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान)

इस प्रकार यह भलीभाँति स्पष्ट है कि भेदविज्ञान ही आत्मा की अनुभूति या प्राप्ति का असली उपाय है, अतः आत्मानुभूति के अभिलाषी को भेदविज्ञान पर विशेष ध्यान देना चाहिए। शास्त्रों में भेदविज्ञान के गीत अनेक आचार्यों द्वारा बारम्बार गाये गये हैं। यथा आचार्य अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—

“भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।

तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥”⁷⁰

अर्थात् जब तक हमारा ज्ञान सर्व परपदार्थों से छूटकर अपने आत्मस्वरूप में ही पूरी तरह लीन न हो जाये, तब तक हमें निरन्तर भेदविज्ञान की भावना करनी चाहिए। जितने भी जीव आज तक सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं तथा जितने भी जीव इस संसार में बद्ध (बँधे हुए) हैं, वे सब एक भेदविज्ञान की कमी से ही बद्ध हैं।

पं. बनारसीदासजी ने भी भेदविज्ञान के सन्दर्भ में एक सुन्दर दोहा लिखा है—

“भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।

धोबी अन्तर आतमा, धोवे निजगुण चीर ॥”⁷¹

अर्थात् ज्ञानी आत्मा भेदज्ञानरूपी साबुन से समतारूपी जल के साथ अपने आत्मगुण रूपी वस्त्रों को निर्मल करते हैं।

दरअसल, आत्मानुभूति आत्मज्ञानपूर्वक ही होती है, आत्मज्ञान के बिना नहीं होती। जिसे अभी आत्मा के स्वरूप का समीचीन ज्ञान ही नहीं हुआ है उसे लाख कोशिश करने पर भी आत्मानुभूति नहीं हो सकती। यही कारण है कि यहाँ भेदविज्ञान पर इतना अधिक जोर दिया गया है।

ध्यातव्य है कि यहाँ भेदविज्ञान का अभिप्राय मात्र स्व और पर पदार्थों का भेद जान लेना ही नहीं है, अपितु आत्मा में विद्यमान स्वभाव-विभाव परिणति का भी भेद पहचान लेना है; क्योंकि आत्मा परपदार्थों से तो भिन्न है ही, परमार्थतः अपने रागादि विभावों से भी भिन्न ही है। जिस प्रकार गर्म

70. समयसार-टीका, कलश 130-131

71. समयसार नाटक, संवर द्वार 9

चाशनी (चीनी का घोल) में विद्यमान मधुरता और उष्णता एक साथ रहते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं, मधुरता चीनी का अपना स्वभाव है और उष्णता अग्नि के संयोग से उत्पन्न हुई है, चीनी का अपना स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार आत्मा में विद्यमान ज्ञानादि और रागादि एक साथ रहते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं, ज्ञानादि आत्मा का अपना स्वभाव है और रागादि परपदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। वे आत्मा के अपने मूल स्वभाव नहीं हैं।

इस प्रकार सर्वप्रथम तो आत्मा के स्वरूप का समीचीन ज्ञान होना चाहिए, आत्मा के स्वभाव और विभाव की भी सच्ची पहचान होनी चाहिए और उसके बाद तीव्र रुचि के द्वारा अपने उपयोग को अन्य सर्व भावों से हटाकर आत्मोन्मुख करना चाहिए, तभी निर्विकल्प आत्मानुभूति सम्भव है। इसके अतिरिक्त आत्मानुभूति का अन्य कोई उपाय नहीं है।⁷²

आत्मानुभूति के काल में साधक को आत्मा का स्वसंवेदन इस प्रकार होता है—

“अहमेवको खलु सुद्धो दंसणाणमइओ सदाऽरूपी।

ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥”⁷³

अर्थात् मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य कोई परभाव परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

देखो आत्मानुभूति की महिमा! यद्यपि यह आत्मा अभी अशुद्ध है, रागादि-सहित है, शरीरादि-सहित है, मूर्तिक है, परोक्ष भी है; तथापि स्वयं को सर्व शरीरादि एवं रागादि भावों से भिन्न शुद्ध-बुद्ध अमूर्तिक रूप में स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभव करता है। और यही तो सच्चा मोक्षमार्ग है।

इस प्रकार समस्त परपदार्थों और अपने रागादि विभावों से भी भिन्न आत्मा के स्वभाव को भलीभाँति पहचान कर उसका निर्विकल्प अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, वास्तविक सुख-शान्ति का मार्ग है।

72. “वस्तु विचारत ध्यावतं, मन पावै विश्राम।

रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताकौ नाम॥” —समयसार नाटक

73. समयसार, गाथा 38

मुक्तावस्था में आत्मा का स्वरूप

आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए यह भी जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी मुक्तावस्था में कैसी स्थिति रहती है।

दार्शनिकों में इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यथा— कुछ लोग कहते हैं कि उसका अभाव हो जाता है, कुछ कहते हैं कि वह जड़वत् हो जाता है, कुछ कहते हैं कि उसके ज्ञानादि का अत्यधिक उच्छेद हो जाता है, कुछ कहते हैं कि वह एक अद्वैत ब्रह्म में मिल जाता है, कुछ कहते हैं कि वह ईश्वर या भगवान् के पास जाकर चिरकाल तक उनकी सेवा-शुश्रूषा करता रहता है, कुछ कहते हैं कि एक निश्चित समय के बाद पुनः इस संसार में आकर जन्म-मरण करना प्रारम्भ कर देता है, इत्यादि।

परन्तु उक्त प्रकार के सभी विचार युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होते हैं, अतः जैन ग्रन्थों में उनका सयुक्तिक निराकरण किया गया है। यथा—

आत्मा को एक अनादिनिधन स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध किया जा चुका है, अतः स्पष्ट है कि उसका सर्वथा अभाव कदापि नहीं हो सकता,⁷² मात्र अवस्था-परिवर्तन होता है। आधुनिक विज्ञान भी यह भलीभाँति सिद्ध कर चुका है कि किसी भी मूलभूत सत् वस्तु का कभी पूर्ण नाश नहीं हो सकता।

आत्मा का जड़ हो जाना भी असम्भव है, क्योंकि जगत् में अनादिकाल से ही दो प्रकार के मूलभूत तत्त्व हैं— 1. चेतन और 2. अचेतन (जड़)। चेतन कभी भी अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन कभी भी चेतन नहीं हो सकता। चाहे कुछ भी हो, पर कोई द्रव्य/तत्त्व कभी भी अपना मूल स्वभाव नहीं छोड़ता।⁷³ हाँ यदि जड़वत् हो जाने का अर्थ संसारावस्था में पाये जानेवाले

72. आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, गाथा 35

73. आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, गाथा 7

84 :: भारतीय दर्शनों में आत्मा एवं परमात्मा

राग-द्वेषादि सर्व विकल्पों से रहित हो जाना है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं।⁷⁴

इसी प्रकार ज्ञानादि गुण तो जीव या आत्मा के मूलभूत स्वभाव हैं, उनका अभाव कैसे हो सकता है? यदि ज्ञानादि गुणों का ही अभाव हो जाएगा तो आत्मा गुणी है, उसका भी अभाव सिद्ध होगा। उष्णतादि गुणों से रहित अग्नि और मधुरतादि गुणों से रहित चीनी का अस्तित्व कहाँ और कैसे सिद्ध हो सकता है?

दरअसल कुछ लोग ज्ञानादि को ही दुःखों का कारण समझते हैं अतः मुक्तावस्था में उनका अभाव कहते हैं, परन्तु वस्तुतः ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं जो दुःख का कारण कदापि नहीं हो सकते। हमें भ्रम से ऐसा लगता है कि ज्ञानादि दुःख के कारण हैं, जबकि दुःख के असली कारण तो रागादि ही हैं। वर्तमान में हमारे जीवन में ज्ञानादि और रागादि दोनों एक साथ रहते हैं, अतः हमें ऐसा भ्रम हो जाता है कि ज्ञानादि दुःख के कारण हैं। उदाहरणार्थ—हमारे किसी रिश्तेदार की मृत्यु हो जाए अथवा हमारी जेब कट जाए तो हमें हमें जब तक उसका ज्ञान नहीं होता तब तक दुःख नहीं होता और जैसे ही ज्ञान होता है तो दुःख हो जाता है, अतः हमें लगता है कि यह ज्ञान ही दुःख का कारण है, यदि ज्ञान ही नहीं होता तो दुःख भी नहीं होता; परन्तु यहाँ भी वस्तुतः दुःख का कारण ज्ञान नहीं है, राग है। हमें अपने रिश्तेदार से अथवा जेब में रखे रुपये से राग था, अतएव दुःख हुआ है। यदि राग नहीं होता तो दुःख नहीं होता।

विचारणीय है कि यदि ज्ञान ही दुःख का कारण हो तो ज्ञान तो सदा एक-सा होता है, फिर दुःख एक-सा क्यों नहीं होता। कभी कम और कभी ज्यादा क्यों होता है? अथवा ज्ञान तो अनेक लोगों को होता है, सभी को दुःख एक-सा क्यों नहीं होता, किसी को कम और किसी को ज्यादा क्यों होता है? अथवा ज्ञान तो बाद में भी जीवनभर बना रहता है, पर हमारा वह दुःख कम क्यों हो जाता है? अतः स्पष्ट है कि दुःख का कारण ज्ञान नहीं, राग है। यदि अधिक राग हो तो अधिक दुःख होता है और कम राग हो तो कम दुःख होता है। तथा जब जिसे जितना राग होता है तभी उसे ही उतना ही दुःख होता है।

74. मुनिराज योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, दृष्टा 1/53

इसप्रकार दुःख की व्याप्ति राग के साथ ही घटित होती है, ज्ञान के साथ नहीं।

अतः मुक्तावस्था में ज्ञानादि गुणों का अभाव नहीं माना जा सकता, मात्र रागादि विकारीभावों का ही अभाव मानना चाहिए। मुक्तावस्था तो जीव की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम है, अतः वहाँ उसकी सर्व अशुद्धता— मलिनता का तो नाश माना जा सकता है, परन्तु जीव/आत्मा नामक मूलभूत वस्तु का ही अथवा उसके ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों का ही अभाव मानना तो कथमपि उचित नहीं है।

इसी प्रकार मुक्तावस्था में यह जीव किसी एक परमब्रह्म या परमशक्ति में जाकर मिल जाता है— यह बात भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती, क्योंकि किसी भी वस्तु का अन्य वस्तु में मिल जाना उसका नाश होना ही तो है। किसी में मिल जाना और अभाव हो जाना— इन दोनों बातों में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व सदा पूर्ण और स्वतन्त्र होता है, आंशिक और परतन्त्र नहीं। जीव किसी का कोई अंश नहीं है— यह हम पहले भी भलीभाँति सिद्ध कर चुके हैं, अतः मुक्तावस्था में जीव का किसी एक परमब्रह्म में मिल जाना भी सही नहीं माना जा सकता है। मुक्तावस्था में तो यह जीव पूर्ण स्वतन्त्र और अपने ज्ञान, आनन्दादि स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न रूप में स्थित रहता है।

मुक्त जीव किसी ईश्वर/परमब्रह्म के पास जाकर चिरकाल तक उनकी सेवा-शुश्रूषा करता रहता है— यह कथन भी हास्यास्पद ही है, क्योंकि इससे मुक्तावस्था में भी जीव की पराधीनता सिद्ध होती है और 'पराधीन सपने हूँ सुख नांही'— यह बात बच्चा-बच्चा अच्छी तरह जानता है।

मुक्तावस्था तो पूर्ण स्वाधीन एवं सुखस्वरूप होती है। यदि वहाँ भी किसी की पराधीनता शेष रही तो वह सुखरूप अवस्था कैसे कही जा सकती है? वह तो दुःखरूप ही सिद्ध हुई।

इसी प्रकार मुक्तात्माओं का कुछ काल बाद पुनः संसार में आकर जन्म-मरण करना भी समीचीन सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि जो एक बार पूर्ण शुद्ध हो गया, समस्त रागादि विकारों और जन्म-मरणादि दुःखों से रहित हो गया, वह पुनः क्यों और कैसे अशुद्ध होगा— यह समझ में नहीं आता। समस्त रागादि विकारों से पूर्णतः रहित हो चुका जीव पुनः कैसे, किससे राग-द्वेष करेगा? अतः ऐसा होना तो असम्भव है। तथा यदि यँ ही पुनः संसार में आकर जन्म-मरण धारण करना पड़े तो मुक्त होने का क्या लाभ/अर्थ हुआ?

मुक्तावस्था तो शाश्वत सुखरूप अवस्था का ही नाम है। तथा यदि अन्य कोई व्यक्ति या वस्तु मुक्तात्माओं को पुनः संसार में लाकर जन्म-मरण करवाता हो तो भी मुक्तात्माएँ पराधीन हो गईं; अतः ऐसा मानना भी समीचीन सिद्ध नहीं होता।

मोक्ष तो आत्मा की समस्त विकारों से रहित पूर्ण शुद्ध-बुद्ध एवं शाश्वत अवस्था का नाम है, जहाँ जीव की सम्पूर्ण परतन्त्रताएँ और सर्व विभाव सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा एक बार शुद्ध हुआ जीव पुनः कभी भी संसार में आकर जन्म-मरण धारण नहीं करता। जिस प्रकार स्वर्ण एक बार पूर्ण शुद्ध स्वर्ण हो जाने पर पुनः अशुद्ध स्वर्ण नहीं बनता, धान से चावल बनने के बाद वह चावल पुनः धान नहीं बनता, दूध से घी बनने के बाद वह घी पुनः दूध नहीं बनता, तिल से तेल बनने के बाद वह तेल पुनः तिल नहीं बनता, उसी प्रकार संसारी जीव मुक्त हो जाने पर पुनः कभी भी संसारी नहीं बनता।¹⁵

यहाँ एक और प्रश्न है कि मुक्त जीव किस आकार में और कहाँ निवास करते हैं? तथा अनन्तकाल तक वे क्या करते रहते हैं, वहाँ उनका क्या कर्तव्य रहता है?

उत्तर— संसारी जीवों का आकार अपने-अपने शरीर के अनुरूप होता है— यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। मुक्तजीव के शरीर नहीं होता, तथापि वह अपने अन्तिम शरीर के आकार में रहता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि साँचे में डाली गई वस्तु साँचे के हट जाने के बाद भी साँचे के आकार में अवस्थित रह जाती है।¹⁶

मुक्त जीवों का निवास-स्थान लोक का सर्वोपरि भाग कहा गया है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। संसारावस्था में आत्मा कर्माधीन होने के कारण अधोगमन और तिर्यक्गमन भी करती है, परन्तु मुक्तावस्था में सर्वकर्म रहित हो जाने से और अपने सर्व स्वभाव प्रकट हो जाने से ऊर्ध्वगमन ही करती है और इसीलिए लोक के सर्वोपरि भाग में जाकर निवास करती है।¹⁷ अधिकांश जैनैतर दर्शनों में भी मुक्त जीवों की स्थिति लोक के अग्र

15. (क) आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत 7/18 एवं 9/53

(ख) पं. दौलतराम कासलीवाल, चतुर-चितारणी, छन्द 140 से 147

16. ब्रह्मदेवसूत्र, बृहद्ब्रह्मसंग्रह-टीका, गाथा 51

17. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र 10 /5-7

भाग में ही मानी गई है।

मुक्त जीव कृतकृत्य हो चुके हैं, वे जगत् का कोई कार्य नहीं करते। पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर वे सम्पूर्ण लोक को जानते-देखते तो हैं, परन्तु किसी परमाणु मात्र का भी कुछ परिवर्तनादि नहीं करते। जगत् के किसी भी पदार्थ के प्रति किञ्चित् भी इष्ट-अनिष्ट भाव उन्हें उत्पन्न नहीं होता। सर्व पदार्थ अपने-अपने हिसाब से परिणमित होते रहते हैं और वे अत्यन्त सहजभाव से उनके ज्ञाता-द्रष्टा मात्र बने रहते हैं। मात्र जानना-देखना और अपने आत्मोत्पन्न स्वभाविक सुख का भोग करना ही मुक्त जीवों का कर्त्तव्य है।

अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप

अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप

गत अध्याय में हमने जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आत्मा के स्वरूप का अध्ययन किया। अब ज्ञातव्य है कि अन्य भारतीय दर्शनों— सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक एवं बौद्ध— में आत्मा का स्वरूप कैसा निरूपित किया गया है।

सांख्य दर्शन में आत्मा का स्वरूप

सांख्य दर्शन भारतवर्ष का एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इतर वैदिक दर्शनों का उद्भव इस दर्शन के बाद ही हुआ माना जाता है। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं¹, जिनका उल्लेख जैन-परम्परा में भी मिलता है।² वहाँ ये कपिल, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पौत्र एवं भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीचि के पुत्र थे और ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए चार हजार राजाओं में परिगणित थे। मरीचि ने ही आगे चलकर ऋषभदेव का विरोध कर 363 मिथ्यामतों की स्थापना की थी।

सम्यक् ख्याति (ज्ञान, तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान) को महत्त्व देने के कारण अथवा तत्त्वों की संख्या बहुत अधिक (25) मानने के कारण इस दर्शन को 'सांख्य दर्शन' कहा जाता है।³

1. (क) "कपिलप्रभृतीनामार्षं ज्ञानमप्रतिहतं श्रूयते।" —श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/2

(ख) "सांख्यस्य वक्ता कपिलः, परमर्षिः स उच्यते।"

—महाभारत, शान्तिपर्व 350/65

2. (क) "विधाय दर्शनं सांख्यं, कुमारेण मरीचिना।

व्याख्यातं निजशिष्यस्य, कपिलस्य पटीयसा ॥" —धर्मपरीक्षा 18/56

(ख) "कपिलादि रचितं श्रुतं कौ अभ्यास।" —दौलतराम, छहछाला 2/6

3. (क) "शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।" —न्यायकोश, पृष्ठ 904

(ख) "संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।

तत्त्वानि च चतुर्विंश तेन सांख्यं प्रकीर्तितम् ॥" —महाभारत 12/4/43

अपने मूल रूप में यह दर्शन किसी भी ईश्वर को इस जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं मानता और किसी प्रकार के यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड को भी महत्त्व नहीं देता। मात्र ज्ञान या तत्त्वज्ञान को ही सर्वाधिक जरूरी मानता है और उसी से मोक्ष की प्राप्ति समझाता है।

ज्ञान को महत्त्व देने के कारण सांख्य दर्शन में आत्मा का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है, किन्तु उल्लेखनीय है कि आत्मा को वहाँ 'पुरुष' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

सांख्य दर्शन में माने गए 25 तत्त्वों में मूलभूत तत्त्व दो हैं— प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। दोनों स्वतन्त्र हैं और भिन्न-भिन्न हैं। इन दोनों को एक या अभिन्न समझना ही अज्ञान है, संसार है और दुःख का कारण है। तथा इन दोनों का विवेक (भेदज्ञान) कर लेना ही सम्यग्ज्ञान है, जो सुख-शान्ति और मोक्ष का कारण है।

प्रकृति ही इस सम्पूर्ण जड़ जगत् का कारण है। पुरुष तो सर्वथा अकर्ता-अभोक्ता है; वह जगत् के किसी भी कार्य का कारण नहीं है।

प्रकृति ही निरन्तर परिणमनशील भी है, उसी में विरूप या सरूप परिणमन होता रहता है और इसलिए वह प्रसवधर्मी कहलाती है।⁴ परन्तु पुरुष तो सदा नित्य निष्क्रिय है एवं उसमें कभी कोई विकार नहीं होता।⁵

प्रकृति में ही सत्त्व, रजस और तमस्— ये तीन गुण माने जाते हैं, पुरुष में नहीं। इसलिए प्रकृति ही सुख-दुःख-मोहात्मक है, पुरुष नहीं। यह बात अलग है कि अचेतन होने के कारण प्रकृति, इन सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं कर पाती।

प्रकृति और पुरुष— ये दोनों ही तत्त्व अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। न इनका कभी जन्म हुआ है और न कभी इनका मरण होगा। इनका कोई कारण भी नहीं है। ये दोनों ही तत्त्व सृष्टि के आदि कारण हैं। उसमें भी पुरुष अकर्ता-अविकारी होने से सृष्टि का असली कारण नहीं कहा

4. "त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।" —सांख्यकारिका, 11

5. "अमूर्तश्चेतनो योगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।

अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने ॥" —षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 481

जा सकता। एक मात्र प्रकृति ही असली कारण सिद्ध होती है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जिन्हें सांख्यकारिका आदि ग्रन्थों से विस्तारपूर्वक जाना जा सकता है, यहाँ स्थानाभाव है; तथापि पुरुष अर्थात् आत्मा यहाँ हमारा विषय ही है, अतः उसके सम्बन्ध में संकोच करना ठीक नहीं है। सांख्य दर्शन में पुरुष की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ प्रदान की गई हैं—

1. प्रकृति और उससे उत्पन्न संघात स्वयं जड़ है, अचेतन है, अतः वह किसी अन्य तत्त्व के प्रयोजन से ही प्रवृत्त हो सकती है और वह अन्य तत्त्व पुरुष ही है।

2. प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अतः सिद्ध होता है कि इस जगत् में अन्य कोई तत्त्व ऐसा भी होना चाहिए, जो निस्त्रिगुण (त्रिगुण-रहित) हो और वह त्रिगुण-रहित तत्त्व पुरुष ही है।

3. हमारा समस्त लौकिक ज्ञान, सुख-दुःखरूप अनुभव और बुद्धि, अहंकार आदि समस्त चित्तवृत्तियाँ एक ऐसे तत्त्व को सिद्ध करती हैं, जो इन सबका अधिष्ठान है। वही तो साक्षी तत्त्व या चैतन्य तत्त्व पुरुष है।

4. प्रकृति और उसके समस्त कार्य स्वयं जड़ हैं, अचेतन हैं, वे स्वयं अपना भोग नहीं कर सकते; अतः उनका भोक्ता भी कोई अलग स्वतन्त्र तत्त्व होना चाहिए और वही पुरुष आत्मा है।

यदि पुरुष, प्रकृति से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व न हो तो दुःखनिवृत्ति का कोई क्यों एवं कैसे पुरुषार्थ करेगा? प्रकृति से भिन्न एक पुरुष तत्त्व भी है और जब उन दोनों का भेदज्ञान ज्ञानीजन करते हैं, तब उन्हें कैवल्य की प्राप्ति होती है और उनकी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष, प्रकृति से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

जैन दर्शन की ही भाँति सांख्य दर्शन में आत्मा या पुरुष की संख्या अनेक मानी गई है। वेदान्तादि की भाँति एक ही आत्मा को सांख्य दर्शन स्वीकार नहीं करता। पुरुष की अनेकता को सिद्ध करने हेतु सांख्य दर्शन में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रदान की गई हैं—

1. जगत् में अनन्त जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। किसी का जन्म हो रहा है और किसी का मरण हो रहा है। यदि एक ही जीव होता तो एकसाथ सबका जन्म ही होता अथवा मरण ही होता। जब एक जन्म लेता है, उसी समय दूसरा मरता है— ऐसा कैसे हो सकता है?

2. सबके इन्द्रिय-व्यापार भिन्न-भिन्न कैसे होते? एक देख रहा है, दूसरा सुन रहा है, तीसरा चख रहा है— इस प्रकार सब जीव भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव, एक ही समय में कर रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस जगत् में जीव एक नहीं है, अनेक हैं।

3. सब जीवों की प्रवृत्ति भी अलग-अलग हो रही है। कोई कुछ कर रहा है और कोई कुछ और ही कर रहा है। जैसे— एक खा रहा है, दूसरा चल रहा है, तीसरा पढ़ रहा है, चौथा बोल रहा है, पाँचवाँ खेल रहा है, इत्यादि। यदि जीव एक होता तो एक साथ सबको एक ही प्रवृत्ति करनी चाहिए थी। सबकी प्रवृत्तियाँ एक ही समय में भिन्न-भिन्न होती हैं— इससे सिद्ध होता है कि जीवों की संख्या एक नहीं, अनेक है।

4. किसी में सत्त्व गुण की प्रधानता है, किसी में रजस् गुण की प्रधानता है और किसी में तमस् गुण की प्रधानता है; इससे भी पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में भी आत्मा को स्वतन्त्र, अनादिनिधन और निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एवं अकर्ता-अभोक्ता माना गया है। 'स्याद्वादमंजरी' के परिशिष्ट (घ) में जैन दर्शन और सांख्य दर्शन की अच्छी तुलना की गई है, जो इस प्रकार है—

“जैन व बौद्ध की तरह सांख्य भी वेद, ईश्वर, याज्ञिक क्रियाकाण्ड व जाति-भेद को स्वीकार नहीं करता। जैनों की भूति ही बहु-आत्मवाद तथा जीव का ज्ञान से मोक्ष होना मानता है। जैन व बौद्ध की भूति परिणामवाद को स्वीकार करता है। अपने तीर्थंकर कपिल को क्षत्रियों में उत्पन्न हुआ मानता है। वैदिक देवी-देवताओं पर विश्वास नहीं करता और... तत्त्वज्ञान, संन्यास व तपश्चरण को प्रधानता देता है। ब्रह्मचर्य को यथार्थ यज्ञ मानता है। गृहस्थ धर्म की अपेक्षा संन्यास धर्म को अधिक महत्त्व देता है।”⁶

6. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 4/399

इसी सम्बन्ध में श्री जिनेन्द्र वर्णी के विचार भी द्रष्टव्य हैं—

“सांख्यों की भाँति जैन भी किसी-न-किसी रूप में 25 तत्त्वों को स्वीकार करते हैं यथा परमभावग्राही द्रव्यार्थिक नय से स्वीकार किया गया एक व्यापक, नित्य, चैतन्यमात्र, जीव तत्त्व ही पुरुष है। संग्रह नय से स्वीकार किया गया एक, व्यापक, नित्य, अजीव तत्त्व ही अव्यक्त प्रकृति है। द्रव्य व भावकर्म व्यक्त प्रकृति है। शुद्धनिश्चय नय से जिसे उपरोक्त प्रकृति का कार्य, विकार तथा जड़माया कहा गया है, ऐसा ज्ञान का क्षयोपशम सामान्य महत् या बुद्धि तत्त्व है, मोहजनित सर्वभाव अहंकार तत्त्व है। संकल्प-विकल्परूप भाव मन तत्त्व है। पाँचों भावेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। व्यवहार नय से भेद करके देखा जाए तो शरीर के अवयवभूत वाक्, पाणि, पाद आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी पृथक् तत्त्व हैं। शुद्धनिश्चय नय से ये सभी तत्त्व चिदाभास हैं, यही प्रकृति पर पुरुष का प्रतिबिम्ब है।

यह तो केवल जगत् का विश्लेषण हुआ। जड़ जगत् की तरफ भी इस प्रकार शुद्धकारणपरमाणु व्यक्त प्रकृति है। शुद्धऋजुसूत्र या पर्यायार्थिक दृष्टि से भिन्न माने गये स्पर्श, रस आदि उस परमाणु के गुणों के स्वलक्षणभूत अविभाग-प्रतिच्छेद ही तन्मात्राएँ हैं। नैगम व व्यवहार नय से अविभागप्रतिच्छेदों से युक्त परमाणु और परमाणुओं के बन्ध से पृथिवी आदि पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है।

असद्भूतव्यवहार नय से द्रव्यकर्मरूप कर्मण शरीर और अशुद्धनिश्चय नय से औदारिक व क्षायोपशमिक भावकर्मरूप कर्मण शरीर ही जीव का सूक्ष्म शरीर है, जिसके कारण उसके स्थूल शरीर का निर्माण होता है और जिसके विनाश से उसका मोक्ष होता है। सृष्टि मोक्ष की यही प्रक्रिया सांख्यमत को मान्य है। शुद्धपारिणामिकभावरूप पुरुष, अव्यक्त प्रकृति को ही तत्त्वरूप से देखते हुए अन्य सब भेदों को उसी में लय कर देना शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टि है। वही परमार्थ ज्ञान या विवेक ख्याति है। तथा वही एकमात्र साक्षात् मोक्ष का कारण है। इस प्रकार सांख्य-जैन तुल्य हैं।”

योग दर्शन में आत्मा का स्वरूप

योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि (ई.पू. दूसरी शती) माने जाते हैं। 'योग' का महत्त्व तो आत्मा-परमात्मा के ध्यान-साक्षात्कार हेतु प्रायः सभी दर्शनों में अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्वीकार किया गया है, किन्तु यहाँ हम महर्षि पतंजलि द्वारा स्थापित एक विशिष्ट दर्शन— योग दर्शन के सन्दर्भ में ही आत्मा का स्वरूप जानने का प्रयत्न करेंगे।

यह योग दर्शन, सांख्य दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि प्रायः सर्वत्र सांख्य-योग का अध्ययन एक साथ ही होता है। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों की प्रायोगिक परिणति ही प्रकारान्तर से योग दर्शन मानी जाती है। यद्यपि सांख्य दर्शन के अतिरिक्त योग दर्शन के कोई भिन्न सिद्धान्त नहीं हैं; तथापि कुछ विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि सांख्य दर्शन 25 तत्त्व मानता है और यह योग दर्शन 26 तत्त्व मानता है, क्योंकि 'ईश्वर' नामक एक और तत्त्व अलग से मानता है; अतः दोनों में अन्तर है। यही कारण है कि सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी और योग दर्शन को ईश्वरवादी भी कहा जाता है। अथवा योग दर्शन का अपरनाम 'सेश्वर सांख्य' भी कहा जाता है।

योग का अर्थ है— मिलना, आत्मा का मिलना; अतएव योग दर्शन में आत्मा के स्वरूप पर नहीं, अपितु उसकी प्राप्ति, अनुभूति या साक्षात्कार पर विशेष जोर दिया गया है। आत्मा का स्वरूप तो दरअसल योग दर्शन भी वही मानता है, जो सांख्य दर्शन मानता है; अतः हम भी यहाँ योग दर्शनानुसार आत्मा के स्वरूप को नहीं, अपितु उसकी अनुभूति की विधि को ही विस्तारपूर्वक समझने का प्रयत्न करेंगे।

योग दर्शन के अनुसार आत्मा के साक्षात्कार की विधि, संक्षेप में 'योग' है। योग का अर्थ है— चित्तवृत्तियों का निरोध⁸ अर्थात् समाधि अथवा ध्यान की गहनता; अतः 'योग' या 'समाधि' को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम चित्त की वृत्तियों को समझना होगा। चित्त की वृत्तियाँ 5 प्रकार की हैं—

1. प्रमाण— प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम— ये 3 प्रमाण हैं।
2. विपर्यय— संशय और विपरीत ज्ञान को विपर्यय कहते हैं।

8. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" —योगसूत्र 1/2

3. विकल्प— असत् वस्तु का संकल्प करना, विकल्प कहलाता है।

4. निद्रा— आज मैं खूब सोया— ऐसी तमस् प्रधान वृत्ति का ज्ञान, निद्रा है। प्रायः हमें लगता है कि निद्रा ज्ञान का अभाव है, परन्तु उस समय भी हमें ज्ञान तो रहता ही है; अतः उसको वृत्ति मानने में सन्देह नहीं है।

5. स्मृति— अनुभूत विषय का स्मरण स्मृति है।

‘योग’ या ‘समाधि’ के काल में इन समस्त चित्तवृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है और तभी वास्तव में आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इससे पूर्व यह जीव जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करता रहता है और क्लेश ही भोगता रहता है। क्लेश 5 प्रकार के हैं—

1. अविद्या— अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा में नित्य, शुचि, सुख और आत्मा की बुद्धि रखना अविद्या है; इसे विपर्यय या मिथ्याज्ञान भी कह सकते हैं।

2. अस्मिता— पुरुष और चित्त दोनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी उनको एक मानना अस्मिता है। यही जीव का मिथ्या अहंकार-ममकार है और इसी से भोक्ता-भोग्य-भोग की भावना होती है।

3. राग— विषय-सुखों की तृष्णा या आसक्ति को राग कहते हैं।

4. द्वेष— सुख के अवरोधक और दुःख के उत्पादक कारणों के प्रति क्रोध या हिंसा का जो भाव होता है, वह द्वेष है।

5. अभिनिवेश— जीवन की आसक्ति और मृत्यु का भय, अभिनिवेश है।

योग या चित्तवृत्ति-निरोध के द्वारा ही जीव के उक्त पाँचों प्रकार के सर्व क्लेशों का नाश हो सकता है, उसकी सर्व अविद्या का नाश हो सकता है और उसे शाश्वत मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

चित्तवृत्तियों को समझने के लिए हमें योग दर्शन में प्रतिपादित चित्त की भूमियों या अवस्थाओं को भी समझना आवश्यक है, जो निम्नलिखित 5 प्रकार की होती हैं—

1. क्षिप्त— यह रजो-गुण-प्रधान होती है; अतः इसमें चित्त अस्थिर,

चंचल और विषयोन्मुख बनकर सुख-दुःख भोगता रहता है।

2. मूढ— यह तमो-गुण-प्रधान होती है; अतः इसमें चित्त विवेकशून्य, कर्तव्याकर्तव्य के बोध से रहित होकर निद्रा-प्रमादादि में पड़ा रहता है। अथवा अविवेकपूर्ण कार्यों में प्रवृत्त होता है।

3. विक्षिप्त— यह सत्त्व-गुण-प्रधान होती है, किन्तु कभी-कभी रजो-गुण भी प्रधान हो जाता है। यह 'क्षिप्त' से अधिक हीन नहीं है, जैसा कि नाम से पता चलता है, किन्तु 'क्षिप्त' से उत्तम है। इसमें अधिकांशतः स्थिरता रहती है और कभी-कभी चंचलता आती है, जबकि क्षिप्त में सदैव चंचलता बनी रहती है।

4. एकाग्र— यहाँ सत्त्व-गुण की ही प्रधानता रहती है, रजो-गुण और तमो-गुण कभी प्रधान नहीं होते, सदा गौण बने रहते हैं। चित्त बाह्य वृत्तियों से ऊपर उठकर ध्येय पर एकाग्र बना रहता है।

5. निरुद्ध— चित्त की अन्तिम भूमि में वृत्तियों का कुछ काल के लिए निरोध हो जाता है, किन्तु उनके संस्कार बने रहते हैं। जब सर्व वृत्तियों और संस्कारों का पूर्ण निरोध होकर अविद्या-निवृत्ति हो जाती है, तभी चित्त अविद्या में विलीन हो जाता है, वही मोक्ष की अवस्था है।

योग दर्शन में इस योग के आठ अंग भी बताये गये हैं, जो अष्टांग योग के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। उनके नाम एवं लक्षण इस प्रकार हैं—

1. यम— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप से मन-वचन-काय का संयम यम है।

2. नियम— शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान— ये नियम हैं।

3. आसन— पद्मासन, वीरासन आदि शरीर-मुद्राओं को आसन कहते हैं।

4. प्राणायाम— श्वासोच्छ्वास का गति-निरोध प्राणायाम है।

5. प्रत्याहार— इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार है।

6. धारणा— विकल्पपूर्वक किसी एक काल्पनिक ध्येय में चित्त को

निष्ठ करना धारणा है।

7. ध्यान— ध्यान, ध्याता व ध्येयसहित चित्त की एकाग्रता ध्यान है।

8. समाधि— ध्यान, ध्याता व ध्येयरहित चित्त की निष्ठता समाधि है।

समाधि के पुनः दो भेद हैं— सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि।

(क) सम्प्रज्ञात समाधि— इसका नाम बीज समाधि भी है क्योंकि यह किसी ध्येय को आश्रय बनाकर की जाती है। इसके चार भेद हैं— वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ये चारों उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। स्थूल विषय से सम्बद्ध चित्तवृत्ति वितर्कानुगत है, जो दो प्रकार का होता है— सवितर्क और निर्वितर्क। शब्द, अर्थ और ज्ञान की एकतारूप भावना सवितर्क है और केवल अर्थ की ही भावना निर्वितर्क है।

बाह्य सूक्ष्म वस्तु से सम्बद्ध सूक्ष्माकार चित्तवृत्ति विचारानुगत है। इन्द्रिय आदि सात्त्विक सूक्ष्म वस्तु से सम्बद्ध चित्तवृत्ति आनन्दानुगत है। चित्त-प्रतिबिम्बित बुद्धि को अस्मिता कहते हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म होती है, उससे सम्बद्ध चित्तवृत्ति अस्मितानुगत है।

(ख) असम्प्रज्ञात समाधि— इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के विकल्प से शून्य, निरालम्ब, संस्कारमात्ररूप, वैराग्यनिबद्ध चित्तवृत्ति असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

इसके दो भेद हैं— भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। भवप्रत्यय अविद्यायुक्त होती है और दो प्रकार की होती है— विदेह और प्रकृतिलय। इन्द्रियों और भूतों की वासना के संस्कार से युक्त विवेक-ख्याति-शून्य अवस्था विदेह है और अव्यक्त महत् आदि की वासना के संस्कार से युक्त अवस्था प्रकृतिलय है। इन दोनों ही प्रकार की अवस्था वाला जीव पुनः संसार में लौट आता है; अतः इन्हें भवप्रत्यय समाधि कहते हैं।

किन्तु उपायप्रत्यय समाधि वाला जीव पुनः संसार में लौटकर कभी नहीं आता है, क्योंकि इससे अविद्या का सम्पूर्ण नाश हो जाता है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, सम्प्रज्ञात, प्रज्ञा और असम्प्रज्ञात के क्रमशः आश्रय से योगियों को जो अविक्षिप्त शान्तचित्तता प्रकट हो जाती है, वही उपायप्रत्यय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप तो वही है, जो सांख्य दर्शन में स्वीकृत है और जिसे हम भी पूर्व में लिख चुके हैं तथा आत्मा के साक्षात्कार या प्राप्ति की विधि योग (चित्तनिरोध) है। यह योग प्राथमिक अवस्था से प्रारम्भ होकर सर्वोच्च दशा तक पहुँचता है। जो जितना इसे अपनाता है, उतना ही ऊपर उठता है। शाश्वत मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग की सर्वोच्च अवस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि का अवलम्बन लेना आवश्यक है। उससे पहले यत्किंचित् लाभ तो होता है, पर संसार निर्बीज नहीं होता।

योग दर्शन की इस विचारधारा का जैन दर्शन से बहुत अधिक साम्य सिद्ध होता है। जैन दर्शन के दिगम्बर और श्वेताम्बर— दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने 'योग' पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय और उसकी सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि टीकाओं में तो योग का विस्तृत वर्णन मिलता ही है; ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, योगसार आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी योग विषय पर उपलब्ध होते हैं। लेकिन यहाँ योग के लिए 'ध्यान' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इस विषय का और भी विस्तृत वर्णन अनेक ग्रन्थों में भेद-प्रभेद सहित उपलब्ध होता है। उनमें से हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्रसूरि और उपाध्याय यशोविजय के ग्रन्थ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। यथा—योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशति, योगलक्षण, अध्यात्मोपनिषद्, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, योगमाहात्म्य आदि। प्राचीन जैन आगम-ग्रन्थों में 'योग' के लिए 'ध्यान' शब्द का विशेष प्रयोग हुआ है और ध्यान के भेद-प्रभेद-सहित ध्यान, ध्याता, ध्येय, ध्यानफल आदि का सविस्तार वर्णन हुआ है। ध्यान की परिभाषा भी 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्'⁹ दी गई है, जो योगदर्शन की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'¹⁰ से मिलती-जुलती है। आत्मा की अनुभूति ध्यानावस्था से प्रारम्भ होती मानी गई है। ध्यान की मध्यवर्ती अवस्थाओं का भी इसी प्रकार वर्णन मिलता है। अन्तिम लक्ष्य कैवल्य और मोक्ष भी ध्यान से प्राप्त होना बताया गया है।

9. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र 9/27

10. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र 1/2

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा का स्वरूप

वैदिक दर्शनों में न्याय और वैशेषिक— इन दोनों दर्शनों की मान्यताएँ प्रायः समान हैं; अतएव अधिकांश विद्वानों ने इन दोनों दर्शनों का अध्ययन एक साथ प्रस्तुत किया है।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक अक्षपाद गौतम माने जाते हैं। शिव या महेश्वर को सृष्टि का कर्ता-धर्ता मानने के कारण इस दर्शन को 'शैव' या 'माहेश्वर दर्शन' भी कहते हैं तथा न्याय, युक्ति या तर्क को प्रधानता देने के कारण इसे 'नैयायिक दर्शन' भी कहते हैं। तथा प्रवर्तक ऋषि के नाम पर कहीं-कहीं इसे 'अक्षपाद दर्शन' के नाम से भी सूचित किया गया है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद माने जाते हैं, अतः इस दर्शन का नाम 'काणाद दर्शन' भी है। विशेष पदार्थ की प्रधानता के कारण इस दर्शन को 'वैशेषिक दर्शन' कहते हैं। कणाद ऋषि उलूक ऋषि के पुत्र थे, अतः इस दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' के नाम से भी जाना जाता है।

न्याय और वैशेषिक— इन दोनों दर्शनों में प्रमुख अन्तर यही है कि न्याय दर्शन में न्याय, तर्क, प्रमाण या ज्ञान-मीमांसा पर बहुत बल दिया गया है और वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निश्चय या तत्त्व-मीमांसा पर बहुत बल दिया गया है। अन्यथा दोनों ही दर्शन एक-दूसरे की प्रायः सभी बातों में एकमत हैं और इसीलिए दर्शनजगत् में ये दोनों दर्शन परस्पर सम्बद्ध और समानतन्त्र कहे जाते हैं।¹¹

वैशेषिक दर्शन के अनुसार इस जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं— 1. भावरूप और 2. अभावरूप। भावरूप पदार्थ 6 हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय तथा अभावरूप पदार्थ 1 है, जो चार प्रकार का है— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में कुल 7 पदार्थ माने गये हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इनमें से द्रव्य 9 कहे गये हैं— 1. पृथिवी, 2. जल, 3. तेज, 4. वायु, 5. आकाश, 6. काल, 7. दिक्, 8. आत्मा और 9. मन।

11. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 181

न्याय दर्शन के अनुसार निम्नलिखित 16 तत्त्वों के समीचीन ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है— 1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा, 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति और 16. निग्रहस्थान।

इन्हीं 16 तत्त्वों के भेद-प्रभेदपूर्वक सविस्तार वर्णन पर न्याय दर्शन का सारा महल खड़ा हुआ है। इनमें से प्रमेय 12 प्रकार के हैं— 1. आत्मा, 2. शरीर, 3. इन्द्रिय, 4. अर्थ, 5. बुद्धि, 6. मन, 7. प्रवृत्ति, 8. दोष, 9. प्रेत्यभाव (परलोक), 10. फल, 11. दुःख और 12. मोक्ष।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा की सत्ता न्याय और वैशेषिक—दोनों ही दर्शनों में स्पष्टरूप से स्वीकार की गई है। न केवल स्वीकार की गई है, अपितु उसके अस्तित्व की सिद्धि हेतु अनेक युक्तियाँ भी प्रस्तुत की गई हैं, जिन्हें आचार्य बलदेव उपाध्याय ने महर्षि कणाद के एक सूत्र¹² के आधार पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

“प्रत्येक शरीर में आत्मा निवास करता है और वह स्वयं नित्य है। आत्मा की सिद्धि में अनेक प्रमाण दिये जाते हैं—

(क) हित-पदार्थ के पाने का और अहित-पदार्थ के छोड़ने का व्यापार मनुष्य के शरीर में हमेशा पाया जाता है। इससे शरीर के भीतर किसी चेतन पदार्थ की सत्ता का संकेत मिलता है। जैसे— रथ के व्यापार से रथ के भीतर सारथिरूप चेतन पदार्थ का अनुमान होता है, वैसे ही शरीर के व्यापार से जिस चेतन पदार्थ का अनुमान किया जाता है, वही आत्मा है (व्यापार)।

(ख) श्वास-प्रश्वास से शरीर फूलता है तथा संकुचित होता है— यह किसी चेतन पदार्थ के द्वारा ही किया जाता है। जैसे— लोहार की भाथी का फूलना और संकुचित होना भाथी फूँकनेवाले प्राणी के व्यापार से होता है (प्राणापान)।

(ग) कुएँ में मोट का गिरना तथा उठना, मोट खींचनेवाले के व्यापार

12. “प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारसुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।” —वैशेषिक सूत्र 3/2/4

से होता है। ठीक इसी प्रकार आँख की पलक का गिरना तथा उठना, यह चेतन व्यक्ति का ही व्यापार है (निमेषोन्मेष)।

(घ) शरीर में घाव लगता है और दवा करने पर फिर भर जाता है। यह शरीर में स्थित आत्मा के द्वारा हो सकता है। जैसे— घर में रहनेवाला घर की मरम्मत करता है (जीवन)।

(ङ) मन को प्रेरित करनेवाला भी आत्मा ही है। जैसे— बालक अपनी इच्छा से गोली या गेंद इधर-उधर फेंकता है, उसी प्रकार आत्मा भी मन को अपनी इच्छानुसार इधर-उधर दौड़ाया करता है (मनोगति)।

(च) मीठे आम को देखकर मुँह में पानी भर आता है, इसका कारण क्या है? किसी रूपविशेष के साथ रस-विशेष का अनुभव पहले हो चुका है और उसी की स्मृति वर्तमान दशा में हो रही है। अनुभव तथा स्मृति का आश्रय ही एक ही होना चाहिए। सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता एक ही चेतन है और वही आत्मा है।

(छ) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण हैं, अतः इनका कोई आश्रय द्रव्य होना ही चाहिए। जड़ होने से शरीर वह आश्रय नहीं हो सकता, चेतन आत्मा ही इसका आश्रय होता है। इन गुणों के आश्रय होने से भी आत्मा की सिद्धि होती है।¹³

आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि के उपरान्त अब हम न्याय-वैशेषिक दर्शनों के अनुसार आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हैं—

1. आत्मा शरीरादिक से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व है, जो स्वभाव से जड़ है। चैतन्य उसका स्वाभाविक नहीं, अपितु आगन्तुक गुण है। अन्य जड़ पदार्थों और आत्मा में यही अन्तर है कि चैतन्य गुण की उत्पत्ति केवल आत्मा में ही हो सकती है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं। इसीलिए आत्मा को चैतन्य अर्थात् ज्ञान का अधिकरण/आधार/आश्रय कहा गया है।¹⁴ दूसरे शब्दों में आत्मा

13. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 227

14. (क) 'ज्ञानाधिकरणमात्मा।' —तर्कसंग्रह, पृष्ठ 12

(ख) 'बुद्ध्यादिगुणानामाश्रयो वक्तव्यः । स एव आत्मा ।'

—केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृष्ठ 185

चैतन्यस्वरूप नहीं है, अपितु चैतन्यवान् है।

2. बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार— ये आत्मा के 9 विशेष गुण हैं, जिनका मुक्तावस्था में अभाव हो जाता है।

3. आत्मा इन्द्रियस्वरूप नहीं है, अपितु इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है। यदि इन्द्रियाँ आत्मा हों तो एक शरीर में अनेक इन्द्रियों की भाँति आत्मा भी अनेक माननी होगी, जो कि असत्य है। दूसरा तर्क— यदि इन्द्रियाँ आत्मा हों तो इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर आत्मा को भी नष्ट हो जाना चाहिए, जो कि नहीं होता; अतः सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं। इन्द्रियाँ तो करण (साधन) मात्र हैं और लेखक (कर्ता) एवं लेखनी (करण) की भाँति आत्मा (कर्ता) और इन्द्रियों (करण) को भिन्न-भिन्न ही मानना उचित है।

4. मन भी आत्मा नहीं है, क्योंकि वह अणुरूप है और प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि मन को आत्मा माना जाए तो उसमें विद्यमान सुख-दुःख, इच्छा आदि भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकते, जबकि वे अनुभवसिद्ध हैं। हम सबको अनुभव है कि ये प्रत्यक्ष होते हैं, अतः मन भी वस्तुतः आत्मा नहीं है। आत्मा तो मन से भी भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य है। अथवा— मन और आत्मा — ये दोनों स्वतन्त्र-स्वतन्त्र दो द्रव्य हैं, इनको एक समझना अज्ञानता है।

5. चार्वाक आत्मा को शरीररूप ही मानते हैं, किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा को शरीररूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि शरीर जड़ एवं अनित्य है, जबकि आत्मा चैतन्य एवं नित्य है। पूर्वजन्म के हर्ष-विषाद एवं स्तनपानादि के संस्कार भी आत्मा को शरीर से भिन्न सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों के कारण प्राणियों की अवस्था और स्वभाव में विविधता दृष्टिगोचर होती है, जिससे सिद्ध होता है कि यह शरीर आत्मा नहीं है, अपितु आत्मा का निवासस्थल है।

6. आत्मा आकाश की तरह स्पर्शादि से रहित है और नित्य भी है; अतः आकाश की तरह व्यापक भी है। उसे न तो अणु-परिमाण मानना उचित है और न ही देह-परिमाण।

7. आत्मा, बौद्धों की मान्यता के समान क्षणभंगुर भी नहीं है, विज्ञानमात्र भी नहीं है, गुण-गुणी के भेदाभावरूप भी नहीं है और अनुपलब्धिरूप भी

नहीं है; अपितु नित्य स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में सर्वत्र उपलब्ध है।¹⁵

8. आत्मा संख्यापेक्षा एक नहीं है, अपितु अनेक हैं। वेदान्तादि कुछ दर्शन कहते हैं कि इस सम्पूर्ण जगत् में एक ही आत्मा है और वही बिम्ब-प्रतिबिम्ब अथवा अंश-अंशीभाव से अनेकरूप दिखाई देता है, किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन में कहते हैं कि इस संसार में कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनवान है, कोई निर्धन है, कोई बालक है, कोई वृद्ध है— इत्यादि प्रकार से अवस्थाओं का भेद पाया जाता है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सब जीव अलग-अलग हैं, अनेक हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि— “न्याय-वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। इस परम्परा में आत्मा को शरीरादि से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है।¹⁶ इस दर्शन के चिन्तकों ने आत्मा को स्वभाव से जड़वत् बतलाया है। अन्य जड़ द्रव्यों से इस द्रव्य में यह भेद किया गया है कि चैतन्य जो आत्मा का स्वाभाविक नहीं, आगन्तुक गुण है, की उत्पत्ति आत्मा में ही हो सकती है।¹⁷ इस तरह आत्मा को चैतन्य या ज्ञान का आधार माना गया है।¹⁸ इस विषय में उनका तर्क है कि ज्ञान या चैतन्य की उत्पत्ति आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष या संयोग होने पर होती है, अपने इस सिद्धान्त के कारण न्याय-वैशेषिक आत्मा को चैतन्यस्वरूप न कहकर चैतन्यवान् कहना अभीष्ट समझते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है कि मुक्तावस्था में शरीरादि का अभाव होने से उसे चैतन्यविहीन माना है। न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त अन्य भारतीय दार्शनिकों को सन्तुष्ट न कर सका, फलतः उसे कड़ी आलोचना का विषय बनना पड़ा, जैसा कि हम आगे देखेंगे। उन्होंने आत्मा को क्षेत्रज्ञ,

15. इस विषय का विस्तार श्री उदयनाचार्य के ग्रन्थ ‘आत्मतत्त्वविवेक’ (प्रकाशक—चौखम्बा प्रतिष्ठान, वाराणसी) में पढ़ा जा सकता है।

16. ‘न शरीरस्य चैतन्यं.....। परिशेषादात्मकार्यत्वात् तेनात्मा समधिगम्यते।’

—प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ 49-50

17. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 2/148

18. (क) ‘बुद्ध्यादिगुणानामाश्रयो वक्तव्यः। स एवात्मा।’

—केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृष्ठ 185

(ख) ‘ज्ञानाधिकरणमात्मा।’ —तर्कसंग्रह, पृष्ठ 12

निरन्वयी, शाश्वत, अविनाशी, व्यापक, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, पाप-पुण्य कर्मों का भोक्ता, प्रति शरीर भिन्न, अनेक और अपरिणामी बताया है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्मा के विशेष गुण¹⁹ तथा संख्यादि बताये गये हैं।²⁰

मुक्ति, मुक्तिमार्ग और मुक्तात्मा का स्वरूप— न्याय-वैशेषिक दर्शनों में मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस दो प्रकार का माना गया है— 1. अपर-निःश्रेयस और 2. पर-निःश्रेयस। इनको क्रमशः जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति भी कह सकते हैं। पहले जीवन-मुक्ति ही प्राप्त होती है, उसके बाद में विदेह-मुक्ति प्राप्त होती है। दोनों प्रकार के निःश्रेयसों का कारण तत्त्वज्ञान ही है, क्योंकि सर्व दुःखों का कारण मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान से ही राग-द्वेषादि दोष प्रकट होते हैं और फिर उन्हीं से यह शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करता है, जो जन्म-मरण का कारण बनती है; अतः मिथ्याज्ञान ही संसार का मूल कारण है और तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का मूल कारण है।

पुनश्च, यह तत्त्वज्ञान भी वास्तव में आत्मज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है; अतः जीव को पूर्ण आत्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मज्ञान की 4 प्रतिपत्तियाँ हैं— श्रवण, मनन, ध्यान और साक्षात्कार। श्रवण-मनन से विपर्यय ज्ञान का नाश हो जाता है, किन्तु आत्मसाक्षात्कार का उदय नहीं होता। आत्मसाक्षात्कार हेतु तो ध्यान का अवलम्बन लेना अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान भी सामान्य नहीं, योगज ध्यान होना चाहिए, उसी से आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार चारों प्रतिपत्तियाँ पूर्ण कर लेनेवाले जीव को असली तत्त्वज्ञान होता है और उसी को मुक्ति की प्राप्ति होती है, परन्तु यह मुक्ति भी जीवन-

19. (क) 'इच्छाद्वेष.....लिंगम्।' —न्यायसूत्र 1/1/10

(ख) 'सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः।...तस्य सामान्यगुणाः सुखादयः पंच, बुद्ध्यादयो नव विशेषगुणाः।' —केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृष्ठ 258

(ग) 'विभवान्महानाकाशस्तथा आत्मा।' —महर्षि कणाद, वैशेषिक सूत्र, 7/1/22

(घ) 'स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः। परममहत्परिमाणवानित्यर्थः।

विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्।' —केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृष्ठ 185

20. डॉ. लालचन्द जैन, जैन दर्शन में आत्मविचार, पृष्ठ 15

मुक्ति या अपर-निःश्रेयस ही है, क्योंकि अभी भी कर्मों का सम्बन्ध बना रहता है। जब उसको भी पूर्णतः क्षीण कर दिया जाता है, तभी विदेह-मुक्ति अर्थात् पर-निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

मुक्तावस्था में आत्मा सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि से रहित होकर केवल अपने विशुद्ध स्वाभाविक स्वरूप में स्थिर हो जाता है। यहाँ तक कि उस समय उसमें चैतन्य भी शेष नहीं रहता, क्योंकि चैतन्य भी आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, अपितु आकस्मिक गुण है, जो शरीर के साथ रहने पर ही प्रकट होता है। मुक्तात्मा शरीर से ही पूर्णतः रहित हो जाता है, अतः शरीर-सम्बन्धी कोई भी गुण या क्रिया मुक्तात्मा में नहीं पाई जाती। मुक्तात्मा (ब्रह्म) को उपनिषदों में आनन्दस्वरूप बतलाया है, किन्तु उसका अर्थ दुःख का अभाव मात्र ही समझना चाहिए।

जिस प्रकार हम ज्वर हो जाने पर अपने को दुःखी और ज्वर मिट जाने पर सुखी कहते हैं; उसी प्रकार मुक्तात्मा सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो जाता है— इसी को ऐसा कहते हैं कि वह सुखी है, आनन्दस्वरूप है। अन्यथा मुक्तात्मा में सुख भी शेष नहीं रहता है, क्योंकि वह भी आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, शरीर के साथ पाया जानेवाला आकस्मिक गुण ही है।

मीमांसा दर्शन में आत्मा का स्वरूप

‘मीमांसा’ का अर्थ है— व्याख्या, यथार्थ वर्णन, समीक्षा, विचार-विमर्श आदि। यह दर्शन पूर्णतया वेद पर आधारित है और निरन्तर वेद-वाक्यों की ही व्याख्या करने में समर्पित है। वेद के भी दो भाग माने गये हैं— मन्त्र-ब्राह्मणादिरूप पूर्वभाग और उपनिषद् रूप उत्तरभाग। मीमांसा दर्शन वेद के मन्त्रब्राह्मणादिरूप पूर्वभाग पर ही आधारित है; अतः इसे ‘पूर्वमीमांसा दर्शन’ भी कहते हैं। वेदान्त दर्शन, जिसकी चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे, वेद के उपनिषद् रूप उत्तरभाग पर आधारित है; अतः ‘उत्तरमीमांसा दर्शन’ के नाम से जाना जाता है। पूर्वमीमांसा को कर्ममीमांसा और धर्ममीमांसा भी कहते हैं तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) को ज्ञानमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं, किन्तु वर्तमान में पूर्वमीमांसा के लिए ‘मीमांसा’ और उत्तरमीमांसा के लिए ‘वेदान्त’ शब्दों का ही व्यवहार विशेषतया प्रचलित है।

मीमांसा दर्शन मुख्यरूप से यज्ञ-यागादि कर्मों का ही प्रतिपादन करता है, किन्तु यदि आत्मा को न माना जाए तो इन कर्मों का कर्ता-भोक्ता कौन सिद्ध होगा? और आत्मा को न मानने के कारण यह दर्शन 'नास्तिक' भी कहलाएगा; अतः इस दर्शन में आत्मा का भी वर्णन किया गया है। यही कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में कहा है—

“प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।

तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ॥”²¹

अथवा—

“इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।

दृढत्वमेतत् विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन।”²²

वैसे मीमांसा दर्शन भी एक दर्शन है, अतः उसकी भी अपनी तत्त्वमीमांसा है। उसके अनुसार भी इस दर्शन में आत्मा के स्वरूप पर विस्तृत एवं युक्तिसंगत चर्चा की गई है।

मीमांसा दर्शन में दो बड़े प्रभावशाली आचार्य हुए हैं— 1. प्राभाकर और 2. कुमारिल भट्ट। इन दोनों की तत्त्वमीमांसा में थोड़ा अन्तर पाया जाता है, अतः मीमांसक दो प्रकार के हो गये हैं— प्राभाकर और भाट्ट। जो भी हो, आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में दोनों में ही विशेष अन्तर नहीं है, अतः हम यहाँ दोनों के विचार एक साथ रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। जहाँ किंचित् विशेष अन्तर बताने की आवश्यकता होगी, वहाँ उसे पृथक्-पृथक् बताने की चेष्टा भी करेंगे।

तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत प्राभाकर 8 पदार्थ मानते हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या; जबकि भाट्ट (कुमारिल) 5 ही पदार्थ मानते हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव; किन्तु दोनों ही 'द्रव्य' के अन्तर्गत आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं और उसकी विस्तृत मीमांसा करते हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

1. आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है और वह संख्यापेक्षा अनेक है। प्रत्येक

21. मीमांसाश्लोकवार्तिक, श्लोक 10, पृष्ठ 4

22. मीमांसाश्लोकवार्तिक, औत्पत्तिक सूत्र 148, पृष्ठ 728

शरीर में भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं, एक ही आत्मा नहीं है।

2. यद्यपि आत्मा विभु सर्वगत या व्यापक द्रव्य है, परन्तु प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है और अपने कर्मों का स्वयं कर्ता-भोक्ता है।

3. आत्मा क्षणभंगुर या कियत्काल स्थाई पदार्थ नहीं है, अपितु शाश्वत या नित्य द्रव्य है। उसका न कभी जन्म हुआ है और न ही कभी विनाश हो सकता है।

4. कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा नित्य होकर भी परिणमनशील है, अतः उसे नित्यानित्य भी कह सकते हैं। इसी प्रकार वह भेदाभेदरूप, चिदचिद्रूप और द्रव्य-गुण-कर्मरूप भी है।

आत्मा को चिदचिद्रूप मानने का अर्थ यह है कि आत्मा में चित् और अचित्— ये दो अंश हैं। चिदंश से आत्मा ज्ञानानुभव करता है और अचिदंश से परिणमन करता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि इस अचिदंश के ही परिणाम हैं। अनुकूल परिस्थिति में (शरीर, विषय आदि का संयोग प्राप्त होने पर) चिदंश का उदय होता है और स्वप्नादि की अवस्थाओं में विषय-सम्पर्क न होने के कारण अचिदंश का उदय रहता है। कुमारिल भट्ट इसीलिए आत्मा को चैतन्यस्वरूप नहीं, अपितु चैतन्य-विशिष्ट मानते हैं और मोक्षावस्था में आत्मा को इस चैतन्य से विरहित भी मानते हैं।

6. आत्मा शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि से भिन्न तत्त्व है। शरीरादि तो भोगायतन हैं, इन्द्रियादि भोग के साधन हैं और मनोभाव व बाह्य पदार्थ भोग्य विषय हैं जबकि आत्मा तो मात्र भोक्ता है।

7. आत्मा ज्ञान का कर्ता भी है और ज्ञान का विषय भी है; अतः उसे प्रतिसमय किसी भी पर पदार्थ को जानते समय भी कर्तारूप आत्मा का प्रतिभास होता ही है। जैसे— मैं घट को जानता हूँ— यहाँ 'मैं' का भी ज्ञान अवश्य ही होता है। यद्यपि प्रभाकर इस बात को नहीं मानते, परन्तु प्रायः सभी परवर्ती मीमांसक आचार्यों ने उनकी बात को अयुक्तियुक्त कहा है और आत्मा के कर्ता-कर्मत्व दोनों को स्वीकार किया है।

मोक्ष का स्वरूप— मीमांसा दर्शन के अनुसार आत्मा का इस सम्पूर्ण जगत् के साथ सर्व सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है— 'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः', क्योंकि इन जगत्-प्रपञ्चों में उलझकर ही यह आत्मा संसार में जन्म-

मरणरूप परिभ्रमण कर रहा है। ये प्रपंच तीन प्रकार के हैं — 1. भोगायतन शरीर, 2. भोगसाधन इन्द्रियाँ और 3. भोगविषय पदार्थ। जब इन तीनों का आत्यन्तिक नाश हो जाए, तभी मोक्ष होता है।

यहाँ एक बात यह भी समझने योग्य है कि कैसे तो इन प्रपंचों का नाश बार-बार होता ही रहता है, मृत्यु के समय तो होता ही है, किन्तु शीघ्र ही उनका पुनः उदय हो जाता है; अतः वह आत्यन्तिक नाश नहीं कहलाता। जब इन प्रपंचों का मूल उत्पादक कारण धर्माधर्म नष्ट हो जाता है, तभी इनका आत्यन्तिक विनाश हो सकता है और वही मोक्ष है।

आत्मा के सभी आगन्तुक या विशेष गुणों— सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, धर्म, अधर्म, ज्ञान आदि— का मोक्ष में पूर्णतया अभाव हो जाता है। प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकों के अनुसार निष्काम भाव से नित्य कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है।

मोक्ष का साधन— वेदविहित कर्म तीन प्रकार के हैं—

1. काम्य कर्म— किसी कामना-विशेष के लिए किया जानेवाला कर्म, काम्य कर्म है। जैसे— 'स्वर्गकामो यजेत्'।

2. प्रतिषिद्ध कर्म— अनर्थ-उत्पादक कर्म निषिद्ध या प्रतिषिद्ध कर्म है। जैसे— 'कलज्जं न भक्षयेत्'।

3. नित्य-नैमित्तिक कर्म— निष्काम भाव से प्रतिदिन करने योग्य कर्म नित्य कर्म हैं। जैसे— सन्ध्यावन्दन आदि। तथा अवसरविशेष पर करने योग्य कर्म नैमित्तिक कर्म हैं। जैसे— श्राद्धादि।

इन तीनों प्रकार के कर्मों में से काम्य और निषिद्ध कर्म तो बन्धनरूप होते हैं, किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म बन्धनरूप नहीं होते, अपितु मोक्ष के साधक होते हैं; अतः मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति और नित्य-नैमित्तिक कर्मों में प्रवृत्ति का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

हाँ, कर्म के साथ-साथ आत्मज्ञान भी उपादेय है। कर्म मोक्ष का प्रधान कारण है, किन्तु आत्मज्ञान भी उसका सहकारी कारण होता है; अतः हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ज्ञान-कर्म-समुच्चय ही मोक्ष का कारण है।

वेदान्त दर्शन में आत्मा का स्वरूप

कहा जा चुका है कि वेद-वाङ्मय के दो भाग हैं— 1. मन्त्र-ब्राह्मणरूप पूर्वभाग और 2. उपनिषद् रूप उत्तर या अन्तिम भाग। वेदान्त दर्शन को वेदान्त दर्शन इसीलिए कहा जाता है क्योंकि यह वेद के अन्तिम भाग—उपनिषदों पर आधारित है। जिस प्रकार वेद के पूर्व भाग पर आधारित होने के कारण मीमांसा दर्शन को 'पूर्व मीमांसा' कहते हैं, उसी प्रकार वेद के उत्तर भाग पर आधारित होने से वेदान्त दर्शन को 'उत्तर मीमांसा' भी कहते हैं। वेदान्त दर्शन में यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मकाण्डों की बजाय आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या पर अधिक बल दिया गया है; अतः इसे ब्रह्मवादी दर्शन भी कहते हैं।

वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक महर्षि बादरायण व्यास माने जाते हैं, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम इस दर्शन हेतु उपनिषदों के आधार पर 'ब्रह्मसूत्र' का निर्माण किया था, जिसमें लगभग साढ़े पाँच सौ सूत्र हैं।

महर्षि बादरायण के बाद शंकराचार्य आदि अनेक विद्वानों ने इस 'ब्रह्मसूत्र' पर अपनी-अपनी दृष्टि से अनेक भाष्य लिखे हैं, जिनमें परस्पर इतना भारी अन्तर भी पाया जाता है कि वे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र दर्शन जैसे ही बन गये और उससे वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय विकसित हो गये। इनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं²³—

सं.	नाम	ई. सन्	भाष्य-नाम	सिद्धान्त
1.	शंकर	788-820	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत
2.	भास्कर	1000	भास्करभाष्य	भेदाभेद
3.	रामानुज	1140	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
4.	मध्व	1238	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
5.	निम्बार्क	1250	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
6.	श्रीकण्ठ	1270	शैवभाष्य	शैव-विशिष्टाद्वैत
7.	श्रीपति	1400	श्रीकरभाष्य	वीरशैव-विशिष्टाद्वैत
8.	वल्लभ	1479-1544	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
9.	विज्ञानभिक्षु	1600	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
10.	बलदेव	1725	गोविन्दभाष्य	अनित्यभेदाभेद

23. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 337

पुनश्च, इनमें भी शंकराचार्य का अद्वैतवेदान्त और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त विशेष प्रसिद्ध हैं, अतः यहाँ हम इन्हीं दो वेदान्त-सम्प्रदायों में आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं—

अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा का स्वरूप

अद्वैतवेदान्त दर्शन को आत्मा के अस्तित्व में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं है, अपितु वह आत्मा के अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक स्वीकार एवं सिद्ध भी करता है—

“शंकराचार्य का कथन है कि प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है; अतः इन व्यवहारों से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता; निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आनेवाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है? अन्यथाभाव (परिवर्तन) ज्ञातव्य में सम्भव है, ज्ञान में नहीं। ‘वर्तमान को इस समय जानता हूँ’, ‘अतीत वस्तु को मैंने जाना’ तथा ‘अनागत वस्तु को मैं जानूँगा’— इस अनुभव-परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप से विद्यमान रहता है।

आचार्य ने भी अन्यत्र इसी तत्त्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है; ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो विश्वास करे कि ‘मैं नहीं हूँ’। यदि आत्मा न होता तो सब किसी को अपने न रहने में विश्वास होता, परन्तु ऐसा तो कभी होता ही नहीं, अतः आत्मा की स्वतःसिद्धि माननी ही पड़ती है।

अतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत पहले ही कहा था कि जो सब किसी को जाननेवाला है, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं? सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्यों कर प्रकाशित किया जा सकता है? इसी कारण प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा, किसी प्रमाण के बल पर कैसे सिद्ध किया जाए? अतः आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध होती है।²⁴

24. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 348

किन्तु यहाँ हमें यह भी स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार इस सम्पूर्ण जगत् में पारमार्थिक सत्ता मात्र एक ब्रह्म की ही है, शेष सब माया है, अथवा व्यावहारिक/प्रातिभासिक सत् है; अतः आत्मा भी ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म से अलग नहीं। यथा—

“सर्वं खलु इदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन।”²⁵

ब्रह्मरूप होने के कारण आत्मा वास्तव में शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, परमचैतन्य, स्वतःसिद्ध, स्वयं प्रकाशित और सम्पूर्ण ज्ञान एवं अनुभव का अधिष्ठान है। वह शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि आदि सबसे भिन्न है। शरीर, इन्द्रियादि में रहते हुए भी वह इन शरीरादि रूप नहीं है, अपितु इनके अन्दर जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है, वही चैतन्यतत्त्व है, ब्रह्म ही है।

ब्रह्म के दो रूप हैं— 1. पर-ब्रह्म और 2. अपर-ब्रह्म। पर-ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष निरुपाधि निष्प्रपञ्च अनिर्वचनीय और स्वानुभूतिगम्य है तथा अपर-ब्रह्म सगुण सविशेष सविकल्प सोपाधि प्रपञ्चरूप और किञ्चित् वचनगोचर भी है; इसको ईश्वर भी कहते हैं, जो समस्त विश्व का कर्ता-धर्ता-नियन्ता है।

किन्तु पारमार्थिक सत्ता एक निर्गुण निराकार निरुपाधि पर-ब्रह्म की ही है। सगुण साकार सोपाधि ईश्वर तो हमें अविद्या से माया की उपाधि के कारण प्रतिभासित होता है। ठीक यही स्थिति जीव (आत्मा) के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। जीव भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अलग नहीं है— ‘जीवो ब्रह्मैव नापरः’²⁶ किन्तु माया की उपाधि के कारण हमें जीवरूप में प्रतिभासित हो रहा है। माया के निवृत्त होने पर एक शुद्ध परब्रह्म ही प्रकाशित होता है; ईश्वर, जीव और जगत्— इन तीनों का ही प्रतिभास पूर्णतः निवृत्त हो जाता है।

ईश्वर और जीव दोनों ब्रह्मरूप हैं, अतः अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार ईश्वर और जीव में भी वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है, उनमें बताया गया अन्तर मात्र व्यावहारिक है। यथा—

“जीव और ईश्वर का भेद व्यावहारिक है। परमार्थतः जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है— ‘जीवो ब्रह्मैव नापरः।’ वस्तुः जीव, ईश्वर और ब्रह्म

25. देवेन्द्र मुनि, अप्पा सो परमप्पा, पृष्ठ 39

26. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 265

एक ही हैं। अद्वैत में भेद कैसा? अनादि अविद्या की गाढ़ निद्रा में चिरकाल से सोया जीव, जब 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य-ज्ञान से जागता है; तब उसे देह, इन्द्रिय, बुद्धि की उपाधि से परे अद्वैत आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। अविद्या के साथ तज्जन्य कार्यजाल भी नष्ट हो जाता है तथा जीवत्व, कर्मत्व, भोक्तृत्व आदि की मिथ्या कल्पनाएँ भी विलीन हो जाती हैं। यह कथन भी कि जीव ब्रह्म बन जाता है, उपचारमात्र है, क्योंकि वस्तुतः जीव सदा ही ब्रह्म है।

जीवत्व अविद्याजन्य भ्रान्ति है, रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, आकाशतल-मलिनता आदि के समान या निकटस्थ जपाकुसुम के कारण रक्त प्रतीत होनेवाले शुभ्र स्फटिक के समान। बन्धन और मोक्ष दोनों व्यावहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं। जीव का जन्म-मरण या उत्पत्ति-विनाश का संसरण अविद्या-कृत है। जब तक अविद्या है तभी तक जीव का जीवत्व है। जब तक देहेन्द्रियमनोबुद्धिरूपी उपाधियाँ हैं, तब तक जीव का जीवत्व है। अविद्या-निवृत्ति होते ही जीव अपने शुद्धात्मस्वरूप में प्रकाशित होता है। वेदान्त में एक ही कूटस्थ नित्य विशुद्धविज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व है और यह विज्ञानधातु अविद्या से अनेक रूपों में प्रतीत होता है तथा इसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है। जो लोग श्रुति में जीव और ब्रह्म का वास्तविक भेद प्रतिपादित मानते हैं, उनको शंकराचार्य ने 'पण्डितापसद'²⁷ (पण्डितों में निकृष्टतम) कहा है।'²⁸

मोक्ष की अवधारणा— अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए उसकी मोक्ष की अवधारणा भी समझने योग्य है।

अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार जीव या आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है; जो शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि से पार शुद्ध, बुद्ध, एक, अखण्ड, चैतन्यज्योतिरूप है, किन्तु अविद्या (अज्ञान/भ्रम) के कारण जीवरूप में प्रतिभासित हो रहा है; अतः मोक्ष भी अन्य कुछ नहीं, इस अविद्या/अज्ञान/भ्रम/माया की निवृत्ति ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और मोक्ष आत्मा के असली स्वरूप का ज्ञान है। दूसरे शब्दों में, स्वयं के ब्रह्मस्वरूप की

27. भगवद्गीता 13/2 (शांकरभाष्य)

28. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 265

अनुभूति ही मोक्ष है तथा इस प्रकार मोक्ष भी वास्तव में ब्रह्म ही है, उससे अलग कुछ नहीं। मोक्ष को ब्रह्म से अलग समझना भी अविद्या ही है। बन्ध और मोक्ष, दोनों ही अविद्याजन्य हैं और एक ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् है, अतः जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है— 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'²⁹। ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मभाव में कोई अन्तर नहीं है।

जीव ब्रह्म बनता नहीं है, स्वयं ब्रह्म ही है; बस उसे पहचानने की जरूरत है और यही मोक्ष है। ऐसा मोक्ष किसी भी प्रकार के क्रियाकाण्ड से प्राप्त नहीं होता, अपितु ज्ञानमात्र से ही प्राप्त होता है। अतएव ब्रह्म-साक्षात्कार, अविद्या-निवृत्ति, प्रपञ्च-विलय और मोक्ष-प्राप्ति— ये सब एकार्थक या पर्यायवाची नाम हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि जीव परमार्थ से शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म ही है, किन्तु अविद्या के कारण मोह-राग-द्वेष-युक्त बना हुआ है और अविद्या ही के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन आदि में तादात्म्य अथवा एकत्व-ममत्व करता है और अपने इसी मिथ्या अहंकार-ममकार के कारण विविध शुभाशुभ कर्मों को करता है एवं उनका सुख-दुःख रूप कर्मफल भोगता हुआ, जन्म-मरण के चक्र में संसरण करता रहता है। यही उसका बन्धन है। इस बीच जब कभी इसे 'तत्त्वमसि'— इस श्रुति-वचन का उपदेश प्राप्त होता है और यह उसे भलीभाँति समझ लेता है और 'अहं ब्रह्मास्मि'— इस प्रकार की अनुभूति कर लेता है, तब इसे ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। ब्रह्म-साक्षात्कार होते ही अविद्या निवृत्त हो जाती है और शरीर रहते हुए भी अशरीरत्व प्रकट हो जाता है, जिसे जीवन-मुक्ति कहते हैं। इस अवस्था में शरीरादि सर्व बाह्य पदार्थों से आसक्ति समाप्त हो जाती है, किसी प्रकार का कोई सुख-दुःख भी स्पर्श नहीं करता। मात्र पूर्व संस्कारवश ही यह शरीर कुछ समय के लिए उसी प्रकार चलता रहता है, जिस प्रकार कुम्हार का चाक, हाथ हटा लेने पर भी पूर्व वेग के कारण कुछ देर घूमता रहता है। इस अवधि में नवीन कर्म संचित नहीं होता और पुराना प्रारब्ध कर्म नष्ट होता रहता है। जब पूरा पुराना कर्म नष्ट हो जाता है, तब देहपात होकर विदेह-मुक्ति हो जाती है, ब्रह्म ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

ऐसे इस मोक्ष का साधन एक मात्र ज्ञान ही है, जो मोक्ष-प्रतिबन्धक अविद्या या अज्ञान को नष्ट कर देता है। कर्मकाण्ड और उपासना आदि को प्राथमिक भूमिका में चित्त को शुद्ध और एकाग्र बनाने का साधन तो कहा जा सकता है, पर वस्तुतः ज्ञान और कर्म— ये दोनों प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध हैं; अतः समस्त कर्मों का आलम्बन छोड़कर एक ज्ञान का ही आलम्बन ग्रहण करना चाहिए।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में आत्मा का स्वरूप

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक रामानुजाचार्य माने जाते हैं, जिनका समय सन् 1017 से 1137 ई. तक माना जाता है। 120 वर्ष की दीर्घायु में उन्हें दर्शनशास्त्र के गहन अध्ययन और व्यापक प्रचार का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। इन्होंने महर्षि बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर जो 'श्रीभाष्य' लिखा है, वही विशिष्टाद्वैत का मूल आधार है। इसमें उन्होंने शंकराचार्य के सर्वथा अद्वैतवाद का प्रबल निराकरण करके विशिष्टाद्वैत की स्थापना की है, जिससे निर्गुण ब्रह्मवाद और सगुण ईश्वरवाद का सुन्दर समन्वय निर्मित हो गया है।

निर्गुण ब्रह्म और सगुण ईश्वर की भाँति इस दर्शन ने ज्ञान और कर्म के भी समन्वय की सुन्दर चेष्टा की, जिससे यह दर्शन-जगत् में विशेष लोकप्रिय भी हुआ। इस दर्शन के साथ अनगिनत भक्त और सन्त जुड़ गये, जिन्होंने जनता की भाषा में इस दर्शन का व्यापक प्रचार-प्रसार किया।

विशिष्टाद्वैत का अभिप्राय है कि तत्त्व सदा द्वैत-विशिष्ट अद्वैत होता है, सर्वथा अद्वैत नहीं। रामानुजाचार्य के अनुसार द्वैत-रहित अद्वैत और अद्वैतशून्य द्वैत— दोनों ही कोरी कल्पना है, क्योंकि भेद के बिना अभेद और अभेद के बिना भेद सिद्ध नहीं होता। दोनों सदा साथ रहते हैं और उनमें पार्थक्य कदापि सम्भव नहीं है। द्वैत विशेषण है, अद्वैत विशेष्य है और विशेषणयुक्त विशेष्य को ही विशिष्ट कहते हैं। यह विशिष्ट अद्वैत है, जिसका विशेषण द्वैत या भेद है।

इस प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनों अपृथक्सिद्ध हैं और उनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि रामानुजाचार्य के अनुसार द्वैत और अद्वैत दोनों समान स्तर के नहीं हैं। अद्वैत

ही मुख्य है, द्वैत तो गौण है। अद्वैत आत्मरूप है, द्रव्यरूप है, अंगी है; किन्तु द्वैत शरीररूप है, गुणरूप है, अंग है; अतः द्वैत अद्वैत पर आश्रित रहता है। यही विशिष्टाद्वैत है।

रामानुजाचार्य के अनुसार तत्त्व तीन हैं— 1. चित्, 2. अचित् और 3. ईश्वर। चित् अर्थात् जीव, अचित् अर्थात् जड़ प्रकृति या जगत् और ईश्वर अर्थात् इन दोनों चित्-अचित् तत्त्वों का अन्तर्यामी। ईश्वर में दोनों तत्त्व समाविष्ट हैं— चित् भी और अचित् भी तथा वही एक इन दोनों का स्वामी है; अतः वस्तुतः इस जगत् में एक ईश्वर ही असली तत्त्व है, अन्य कुछ नहीं।

शंकराचार्य द्वारा वर्णित निर्गुण ब्रह्म की कल्पना भी असम्भव है। कोई वस्तु सर्वथा निर्गुण हो ही नहीं सकती, ब्रह्म वास्तव में सगुण ही होता है, जिसे ईश्वर कहते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म को 'निर्गुण' कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि उसमें संसारी जीव के मोह-राग-द्वेष आदि गुण विद्यमान नहीं रहते।

रामानुजाचार्य के अनुसार चित् और अचित् (जगत्)— दोनों ही नित्य और परस्पर स्वतन्त्र द्रव्य हैं, किन्तु दोनों ही ईश्वर पर आश्रित हैं, सर्वथा ईश्वर के आधीन हैं; अतः ईश्वर को ही एक मात्र पारमार्थिक सत् कहा जाता है, किन्तु यदि ईश्वर की अपेक्षा बिना ही इनको समझा जाए तो ये दोनों स्वयं स्वतन्त्र द्रव्य हैं और इनका विस्तारपूर्वक स्वरूप-निरूपण किया जा सकता है। हमारा प्रकरण यहाँ मात्र आत्मा का है, जिसे इस दर्शन में 'चित्' या 'जीव' कहा है, अतः यहाँ हम उस 'चित्' का ही स्वरूप समझने का प्रयत्न करते हैं। डॉ. चन्द्रधर शर्मा ने विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में प्रतिपादित आत्मा (चित् तत्त्व) के सम्पूर्ण स्वरूप को इस प्रकार विवेचित किया है—

“चित् या चेतन जीव यद्यपि ईश्वर का विशेषण, प्रकार या गुण है, तथापि वह स्वयं चेतनद्रव्य है। जीव एक नहीं, अनेक हैं। जीव, नित्य, जन्म-मरण-रहित और अणुरूप है। वह शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, अहंकार और बुद्धि से विलक्षण है। वह स्वप्रकाश चेतनद्रव्य है और ज्ञानाश्रय है। वह अपने धर्मभूत ज्ञान का आश्रय है। साथ ही वह नित्य स्वचेतन ज्ञाता या द्रष्टा है; अतः ज्ञानस्वरूप भी है। ज्ञान उसका आवश्यक, अनिवार्य और अपृथक्सिद्ध स्वरूप है। ज्ञान उसका आवश्यक धर्म भी है और उसका अपृथक् स्वरूप

भी है; अतः उसे एक साथ ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय कहा जाता है।

वह स्वभाव से आनन्दरूप है। वह परिवर्तनरहित, अविकारी और पूर्ण है, किन्तु अविद्या और कर्म के कारण वह बन्धन में पड़कर जन्म-मरण-चक्र में घूमता है। कर्म से उसका सम्बन्ध अनादि है। शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से वह संसारी दशा में तादात्म्य स्थापित करके, जन्म-मरण-चक्र में फँसकर, अनेक प्रकार के दुःख भोगता रहता है। अनेक जन्मों में भी वह अपने नित्यस्वरूप में अविकारी रहता है। विविध जीव स्वरूपतः समान हैं, उनमें गुणगत भेद नहीं है, केवल मात्रा-भेद है। जीव ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। जीव अणु है, किन्तु उसका ज्ञान विभु है।

आत्मा स्वप्रकाशक है, किन्तु वह पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता। ज्ञान स्वयं को और पदार्थों को प्रकाशित करता है, जिससे आत्मा उन्हें जान सके। ज्ञातृत्व केवल आत्मा का ही स्वरूप है। आत्मा ही स्वयं को और पदार्थों को जानता है। जीवात्मा का ज्ञान बद्धावस्था में कर्मों के कारण अवरुद्ध रहता है एवं उसका आनन्द भी सीमित रहता है, अतः संसारी जीव अल्पज्ञ और दुःखी होते हैं। मोक्ष में कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से जीव का ज्ञान और आनन्द ब्रह्म के समान नित्य, विभु तथा अखण्ड हो जाता है।

जीव शुद्ध स्वसंवेद्य अहं है, जो बद्धावस्था के अहंकार-ममकार से भिन्न है। चित् चेतनद्रव्य है, तत्त्व है; किन्तु ईश्वर पर सर्वथा आश्रित है। जीव विशेषण, गुण, प्रकार, शरीर, अंग, अंश, धार्य, नियाम्य और शेष है; ईश्वर विशेष्य, द्रव्य, प्रकारी, शरीरी (आत्मा) अंगी, अंशी, धर्ता, नियन्ता और शेषी है।

रामानुज ने चित् या जीवात्मा के तीन प्रकार माने हैं— प्रथम, नित्य-मुक्त जीव हैं, जो कभी बद्ध नहीं रहे, जो अविद्या, कर्म और प्रकृति से सदा मुक्त हैं एवं जो वैकुण्ठ में सदा भगवत् सेवा में रत रहते हैं। ये शेष, गरुड़, विष्वक्सेन आदि हैं। द्वितीय श्रेणी में मुक्त जीव आते हैं, जो बन्धन से मुक्त हो चुके हैं। तृतीय प्रकार के जीव, बद्ध जीव हैं जो अविद्या और कर्म के कारण जन्म-मरणरूपी संसारचक्र में घूम रहे हैं तथा विविध दुःख भोग रहे हैं।¹¹³⁰

30. डॉ. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 314

तात्पर्य यही है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा या जीव ईश्वर के अधीन होते हुए भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है और संख्यापेक्षा अनन्त हैं। सभी जीव एक-दूसरे से नितान्त भिन्न-भिन्न हैं। शंकराचार्य के मतानुसार जीव मूलतः एक ही है, जो देहादि उपधियों के कारण नाना प्रतीत होता है; किन्तु रामानुजाचार्य के मतानुसार ऐसा नहीं है। उनके मत में जीव संख्यापेक्षा अनन्त ही हैं और सभी स्वतन्त्र द्रव्य हैं। स्वरूप की अपेक्षा से वह जीव शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण अनन्त आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार और ज्ञानाश्रय है।

मोक्ष और मोक्ष का साधन— रामानुजाचार्य ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी हैं। उनका कहना है कि कोरे ज्ञान से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। ज्ञान से ही मुक्ति होती है— ऐसा कथन ज्ञान पर विशेष बल देने के लिए किया जाता है, परन्तु वास्तव में ज्ञान के साथ कर्म भी होना अनिवार्य है। तथा ज्ञान का अर्थ भी वेदान्त का शुष्क अध्ययन ही नहीं है, अपितु ईश्वर की धृवा स्मृति एवं शरणागति है। एक ईश्वर-शरणागति से ही जीव के समस्त बन्धनों और क्लेशों का नाश होता है और उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार मुक्त आत्मा शंकराचार्य की भाँति ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप नहीं होता, अपितु ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के 'समान' हो जाता है। वह ब्रह्म के स्वरूप एवं गुणों को प्राप्त अवश्य कर लेता है, परन्तु ब्रह्म के साथ एकमेक नहीं होता। वह वहाँ भी ईश्वर के ही अधीन रहता है, उसका किंकर ही बना रहता है, क्योंकि कैंकर्य भाव ही परम मुक्ति है। जीव मुक्त होकर सर्वज्ञत्वादि गुणों से सम्पन्न अवश्य हो जाता है, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के ही साथ रहता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव की 'जीवन्मुक्ति' नहीं होती, मात्र 'विदेहमुक्ति' ही होती है।

इस प्रकार हमने यहाँ वेदान्त दर्शन के दो प्रमुख सम्प्रदायों— अद्वैत वेदान्त और विशिष्टाद्वैत वेदान्त— के अनुसार आत्मा या जीव का स्वरूप समझा। वेदान्त दर्शन में इन दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सम्प्रदाय हो चुके हैं और आज भी होते जा रहे हैं; किन्तु आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में उनमें कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है, अधिकतर सम्प्रदाय

रामानुज के विशिष्टाद्वैत की मान्यता का ही अनुसरण करते हैं। अतएव यहाँ उन सब सम्प्रदायों की पृथक्-पृथक् चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा है।

चार्वाक दर्शन में आत्मा का स्वरूप

चार्वाक दर्शन का अपर नाम 'लोकायत दर्शन' भी है और इसके प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं, अतः इसे 'बार्हस्पत्य दर्शन' भी कहते हैं। सर्व लोक को प्रिय लगनेवाले वचन (चारु+वाक्) कहने से इस दर्शन को लोकायत या चार्वाक दर्शन कहते हैं। प्रायः सभी दर्शन सांसारिक विषय-भोगों से विरक्त होकर व्रत-संयम-तप-त्याग के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं, किन्तु यह दर्शन कहता है कि उस सब की कोई चिन्ता मत करो, खाओ-पीओ, मस्त रहो, कोई स्वर्ग-नरक आदि नहीं हैं, आत्मा-परमात्मा और पाप-पुण्य भी कुछ नहीं होता।³¹ राजा ही परमात्मा है। प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है और इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है। चार्वाक दर्शन का एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—

“यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥”³²

अर्थात् जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज लेकर भी घी पीओ। शरीर के नष्ट होने के बाद फिर यहाँ पुनरागमन किसका होगा? अर्थात् पुनरागमन या पुनर्जन्म कुछ भी नहीं होते, उनकी चिन्ता व्यर्थ है।

इससे स्पष्ट है कि यह दर्शन पूर्णतया भौतिकवादी दर्शन है। आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म आदि कुछ भी नहीं मानने के कारण चार्वाक दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है।

यद्यपि कुछ लोग भ्रमवश जैन और बौद्ध दर्शन को भी नास्तिक कहते हैं, परन्तु वास्तव में जैन और बौद्ध ये दोनों दर्शन नास्तिक नहीं कहे जा सकते; क्योंकि इनमें आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म

31. “लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निवृत्तिः।

धर्माधर्मौ न विद्येते, न फलं पुण्यपापयोः ॥”

—हरिभद्रसूरि. षड्दर्शनसमुच्चय, 80

32. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 3

आदि को स्पष्ट रूप से माना गया है। यदि वेदों को न मानने के कारण ही ये दोनों दर्शन नास्तिक कहे जाएँ तो आगम और त्रिपिटक को न मानने के कारण सर्व वैदिक दर्शन भी नास्तिक कहे जा सकते हैं; अतः जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहना उचित नहीं है।³³

चार्वाक दर्शन वस्तुतः ही नास्तिक है, अतः उसके यहाँ आत्मा का स्वरूप कैसा है— यह समझना-समझाना बहुत कठिन है, क्योंकि वह आत्मा नामक किसी स्वतन्त्र तत्त्व की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। तथापि उसके यहाँ आत्मा की जैसी जो कुछ व्याख्या मिलती है, वह संक्षेप में इस प्रकार है—

इस लोक में चार ही मूल तत्त्व हैं— 1. पृथ्वी, 2. जल, 3. अग्नि और 4. वायु; इन्हें 'भूतचतुष्टय' भी कहते हैं।³⁴ जगत् में इन चार भूतों के अतिरिक्त पाँचवाँ कोई तत्त्व या पदार्थ स्वतन्त्रतः नहीं है। आत्मा भी कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। उक्त चार तत्त्वों के ही एक विशिष्ट अनुपात में सम्मिश्रण होने पर चैतन्य की उत्पत्ति होती है, जिसे जीवित शरीर भी कहा जाता है। आत्मा इस जीवित शरीर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस बात को अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही के द्वारा सिद्ध भी किया जा सकता है। यथा—

अन्वय— जब तक शरीर जीवित है, तभी तक उसमें चैतन्य है अथवा जहाँ-जहाँ जीवित शरीर है, वहाँ-वहाँ ही चैतन्य है।

व्यतिरेक— जब जीवित शरीर नहीं रहता, तब चैतन्य भी नहीं रहता अथवा जहाँ-जहाँ जीवित शरीर नहीं है, वहाँ-वहाँ चैतन्य भी नहीं है।

इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक दोनों ही के द्वारा यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि यह जीवित शरीर मात्र भूतचतुष्टय का ही सम्मिश्रण है और वही आत्मा है, इससे भिन्न अन्य कोई आत्मा नहीं है।

ध्यान रहे— भूतचतुष्टय में से किसी भी भूत में मूलतः चैतन्य नहीं

33. इस विषय में देखिये परिशिष्ट (ग)—'जैन दर्शन नास्तिक नहीं है'।

34. "पृथिवी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम्।"

—हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, 83

पाया जाता, अतः उनका कैसा भी मिश्रण चैतन्य का जनक नहीं कहा है, अपितु उसका एक विशिष्ट सम्मिश्रण ही चैतन्य का जनक कहा है। जिस प्रकार मदिरा के विभिन्न घटक तत्त्वों में से किसी भी तत्त्व में मूलतः मादकता नहीं पाई जाती, किन्तु जब उनमें एक विशेष प्रक्रिया से विकार उत्पन्न किया जाता है तो उनमें मादकता नाम का गुण उत्पन्न हो जाता है³⁵ अथवा पान, कत्था, चूना, सुपारी— इनमें से किसी में भी मूलतः लालिमा नहीं होती, परन्तु जब उन्हें मिलाकर खाया जाता है तो लालिमा उत्पन्न हो जाती है।³⁶

जीवित शरीर को ही आत्मा सिद्ध करने में एक युक्ति यह भी है कि संसार के सभी प्राणी इस जीवित शरीर के साथ ही सदैव अहंप्रत्यय का अनुभव एवं व्यवहार करते हैं। यथा— मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ, इत्यादि।

इस प्रकार आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व न मानने के कारण अथवा भूतचतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति मानने के कारण अथवा शरीर को ही आत्मा मानने के कारण चार्वाक दर्शन को अन्य दर्शनों ने अनात्मवादी, भूतचैतन्यवादी और शरीरात्मवादी कहा है तथा उनके इस सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक सयुक्तिक समीक्षा भी की है।

ध्यान देने की बात यहाँ यही है कि हमारे देश में हमारे पूर्वज दार्शनिकों ने ऐसे अनात्मवादी या शरीरात्मवादी विचार को भी द्वेषभाव से नहीं, दर्शन के भाव से ग्रहण किया था और उसकी अन्धी आलोचना नहीं, सयुक्तिक समालोचना प्रस्तुत की थी। सच ही है, अपने-अपने विचार प्रकट करने का सभी को उचित अधिकार है।

बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वरूप

बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध थे, जो आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व वैशाखी पूर्णिमा विक्रमपूर्व सं. 505 (448 ई.पू.) को बिहार के एक समृद्ध राजघराने कपिलवस्तु में राजा शुद्धोदन और रानी मायादेवी के

35. “किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् चैतन्यमुपजायते।” —सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 4

36. “जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।

ताम्बूलपूर्णचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥” —सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 5

घर पैदा हुए थे। कहा जाता है कि प्रारम्भ में उन्होंने भी अपने समय में प्रचलित जैनधर्म को ही अपनाया था, किन्तु बाद में उसकी चर्या को अत्यन्त कठोर जानकर, यह मध्यम मार्ग अपनाकर अपना एक नया दर्शन प्रवर्तित किया था,³⁷ जो बौद्ध दर्शन के नाम से विख्यात हुआ।

महात्मा गौतम बुद्ध के सम्पूर्ण उपदेशों का संग्रह आज 'त्रिपिटक' के रूप में उपलब्ध है। 'त्रिपिटक' का अर्थ है— पालि भाषा में रचित निम्नलिखित 3 महाग्रन्थ—

1. सुत्तपिटक
2. विनयपिटक
3. अभिधम्मपिटक

इन तीन महाग्रन्थों में अनेक ग्रन्थ समाविष्ट हैं और इसीलिए परिमाण

37. इस सन्दर्भ में आचार्य विद्यानन्द मुनि के शोधपूर्ण विचार इस प्रकार हैं—

“भगवान महावीर के समकालीन मगध में एक अन्य क्षत्रिय राजकुमार वैदिक पशुवध के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार करनेवाले प्रकट हुए जिनका प्रसिद्ध नाम महात्मा बुद्ध या गौतम बुद्ध है। ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। इन्होंने संसार से विरक्त होकर अपने शिशु पुत्र तथा पत्नी को एवं अपने अन्य समस्त परिवार को छोड़कर साधुदीक्षा ली।

उस समय भगवान महावीर का शासनकाल नहीं था। उस समय भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा का श्रमणसंघ (साधुसंघ) धर्मप्रचार कर रहा था।

श्री देवसेन आचार्य विरचित 'दर्शनसार' पुस्तक में लिखा है—

“सिरिपासणाहत्तित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।

पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तमुणी ॥ 6 ॥

तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपव्वज्जओ परिब्भट्ठो।

रत्तंवरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥ 7 ॥”

अर्थ— श्री पार्श्वनाथ के तीर्थकाल में (भगवान महावीर के धर्मप्रचार होने से पहले) सरयू नदी के किनारे पलाशनगर में विराजमान श्री पिहितास्रव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ। वह मरी हुई मछली के माँस को निर्दोष समझकर खा जाने से साधुचर्या से भ्रष्ट हो गया। तब उसने (अपना नग्न वेश छोड़कर) लाल कपड़े लिए और क्षणिक एकान्त मत (बौद्धमत) की स्थापना की।

श्री देवसेन आचार्य का उक्त कथन सत्य प्रमाणित होता है, क्योंकि उस समय भगवान पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा चल रही थी और गौतम बुद्ध ने घर-बार त्यागकर

की दृष्टि से भी भारतीय वाङ्मय में 'त्रिपिटक' का एक अपना विशेष स्थान माना जाता है। वैसे तो सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन के मूलाधार ये त्रिपिटक ही हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त नागसेन कृत 'मिलिन्दपञ्चो' आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी त्रिपिटक के समान ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। यद्यपि स्वयं गौतम बुद्ध ने तर्क-वितर्क को बहुत महत्त्व नहीं दिया, तत्त्व को अनिर्वचनीय / अव्याकृत बताकर व्यर्थ के ऊहापोह से अपने शिष्यों को सदा रोका और उन्हें

पहले-पहल अपने शरीर के समस्त वस्त्र उतार कर जैन सुध का नग्न वेश धारण किया था। कुछ दिन वे जैन साधु के समान नग्न (नंगे) रहकर तपस्या करते रहे, किन्तु जब उनको वह नग्न तपस्या बहुत कठिन प्रतीत हुई तब उन्होंने उस नग्न मुनिचर्या को त्यागकर गेरुआ (लाल) कपड़े पहन लिये तथा जैन मुनि की खान-पान सम्बन्धी एवं अन्य चर्या का परित्याग कर दिया।

यह बात उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थ मज्झिमनिकाय महासीहनाद सुत्त 12 में स्वयं बतलाई है। देखिये—

'अचेलको होमि... हत्थापलेखनो... नाभिहन्त न उद्दिस्सकतं न निमंतण सादियागि, सो न कुम्भीमुखा परिगण्हामि न कलोपि मुखा परिगण्हामि, न एलकमंतरं न दण्डमंतरं न मुसलमंतरं, न दिन्नं भुंजमानानं, न गब्भनिया, न पायमानया, न पुरिसंतरगताम्, न संकित्तिसु यथ सा उपट्ठितो होति, न यथ भक्खिका संड संड चारिनी, न मच्छ न मासं सुरं न मरेयं न धुसोदकं पिवामी सो एकगारिको वा होमि एकालोपिका, द्वागारिको होमि द्वालोपिको, सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिको, एकाहं व आहारं आहारेमि द्वीहिकं व आहारं आहारेमि सत्ताहिकमि आहारं आहारेमि। इति एयरूपं अद्धमासिकं पि परियायमत्तभोजनानुयोगं अनुयुतो विरहामि... केस्स- मस्सुलोचको वि होमि केसयस्सु लोचानुयोग अनुयुत्तो - पावउद विन्दुमिहि पिमे दया पच्च पट्ठिताहोति। माहं खुद्दके पाणे विसभगते संघातं आयादे स्संति।'

अर्थ— मैं वस्त्र-रहित रहा, मैंने आहार अपने हाथों से किया। न लाया हुआ भोजन लिया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ लिया, न निमन्त्रण से जाकर भोजन किया, न बर्तन में खाया, न थाली में खाया, न घर की इयोढ़ी में (within a threshold) खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल से कूटने के स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलानेवाली से लिया, न भोग करनेवाली से लिया, न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से लिया जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। न मछली, न माँस, न मदिरा, न सड़ा हुआ माँस खाया, न तुसका मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन लिया सो भी एक ग्रास लिया, या मैंने दो घर से भोजन लिया, दो ग्रास लिए। इस तरह मैंने सात घरों से लिया सो भी सात ग्रास, एक घर से एक ग्रास लिया। मैंने कभी दिन में एक दफा भोजन किया, कभी पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया। मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूँछों के केशलोंच

मात्र वैराग्य द्वारा दुःख-निरोध का उपाय करने की प्रेरणा दी; परन्तु परवर्ती बौद्ध पण्डितों ने सूक्ष्म तर्क-वितर्क से ऐसा दर्शनशास्त्र विकसित किया कि अन्य दार्शनिकों ने बौद्ध दर्शन को ही निम्नलिखित चार सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया—

1. वैभाषिक— बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी
2. सौत्रान्तिक— बाह्यार्थानुमेयवादी
3. योगाचार— विज्ञानवादी
4. माध्यमिक— शून्यवादी

उक्त विभाजन का प्रमुख आधार 'सत्ता' विषयक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

किये। उस केशलोंच की क्रिया को चालू रखा। मैं एक बूँद पानी पर भी दयालु रहता था। क्षुद्र जीव की हिंसा भी मेरे द्वारा न हो, ऐसा मैं सावधान था।

'सो तत्तो सीनो एको मिसनके बने।

नग्नो न च आर्गी असीनो एकनापसुतो मुनीति ॥'

अर्थ— इस तरह कभी गर्मी, कभी ठण्डक को सहता हुआ मैं भयानक वन में नग्न (नंगा) रहता था। आग से तापता नहीं था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

महात्मा बुद्ध के मुख से निकले हुए उक्त वाक्य आचार्य देवसेन के पूर्वोक्त कथन की पुष्टि करते हैं। नग्न रहना, अपने हाथों में भोजन करना, अपने सिर, दाढ़ी-मूँछ के बालों को अपने हाथ से लोंच करना; ये समस्त क्रियाएँ जैन साधु की हैं, जो कि प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध करते रहे।

परन्तु महात्मा बुद्ध को नग्न रहना, अपने बालों को अपने हाथों से लोंच करना (उखाड़ना), खड़े होकर अपने हाथों में भोजन करना आदि जैन साधु की चर्या कठिन प्रतीत हुई। अतः वे न तो उस उच्च मार्ग के तपस्वी बनना चाहते थे और न निम्न श्रेणी के जीवन गृहस्थाश्रम में फिर जाना चाहते थे। इस कारण उन्होंने जैन क्षुल्लक के समान मध्यम मार्ग अपने लिए निश्चित किया। तदनुसार उन्होंने लाल रंग के रँगे (गेरुआ) वस्त्र (धोती-दुपट्टा) पहनकर, गृहस्थों के घरों से भोजन लाने के लिए पात्र ग्रहण किया। इस तरह वे वस्त्र-पात्र रखकर अपने नये कल्पित मध्यमार्गी साधुवेश में तपस्या करने लगे।

सारांश यह है कि महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में जैन साधु का शिष्य बनकर नग्न साधु बनकर तपस्या की थी किन्तु उस नग्नचर्या को कठिन समझकर उन्होंने कुछ दिन पीछे छोड़कर कुछ वस्त्र-पात्र अपनाकर अपना नया साधुमार्ग बनाया जिसको वे मध्यम मार्ग समझते थे।"

—आचार्य विद्यानन्द मुनि, विश्वधर्म की रूपरेखा, पृष्ठ 33-34

अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप :: 125

वैभाषिक कहते हैं— बाह्य वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सकता, वह प्रत्यक्ष विद्यमान है। सौत्रान्तिक कहते हैं— बाह्य वस्तु है तो सही, पर प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमेय है। योगाचार कहते हैं— बाह्य वस्तु जगत् में कुछ है ही नहीं, मात्र अपना चित्त या विज्ञान ही सत्य है। माध्यमिक कहते हैं— बाह्य वस्तु तो है ही नहीं, चित्त या विज्ञान की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, शून्य ही परमार्थ सत्य है।

हमारा उद्देश्य यहाँ बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप समझना है, किन्तु इसके लिए बौद्ध दर्शन की प्रकृति से सम्बन्धित दो मूलभूत बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

1. “अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का लक्ष्य नहीं था, प्रत्युत इस क्लेश-बहुल प्रपंच से उद्धार पाने के लिए सरल आचारमार्ग का निर्देश करना ही उनका प्रधान ध्येय था। शिष्यों द्वारा आध्यात्मिक प्रश्नों को सुनकर बुद्ध के चुप हो जाने का यही रहस्य है। ऐसे प्रसंग निकायों में अनेक बार आये हैं कि बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में अतिप्रश्नों के पूछने से अपने शिष्यों को रोका। श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर मालुक्क्यपुत्त ने बुद्ध से लोक के शाश्वत, अशाश्वत, अन्तवान, अनन्त होने के तथा जीव और शरीर की भिन्नता और अभिन्नता आदि के विषय में दस प्रश्नों को पूछा, परन्तु भगवान ने आचारमार्ग के लिए वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तर ज्ञान), सम्बोध (परमज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति) के उत्पन्न करने में साधक न होने से उन्हें अव्याकृत (व्याकरण — कथन के अयोग्य) बतलाया। इस विषय में उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। यदि कोई व्यक्ति विषदग्ध बाण से बिद्ध होकर कराहता हो और बन्धु बान्धव चिकित्सा के लिए किसी विषवैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हों, तो क्या उस रोगी के लिए वैद्य के नाम, गोत्र, रूप, रंग आदि की जानकारी के लिए आग्रह करना पहले दर्जे की मूर्खता नहीं है? भवरोग के रोगी प्राणियों की दशा भी ठीक ऐसी ही है, उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना है? उन्हें तो कर्तव्य-मार्ग की रूपरेखा का जानना ही जरूरी है।”³⁸

2. “बौद्ध दर्शन में आत्मतत्त्व का सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवाद

38. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 121

के सिद्धान्त पर आधारित है। बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है कि परिवर्तन या क्षणिकता ही यथार्थ सत् है। क्षणिकवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी उन्होंने अपने प्रसिद्ध कारण-कार्य सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा सिद्ध किया है। क्षणिकवाद सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणिक है, कोई भी वस्तु दो क्षणों तक विद्यमान नहीं रहती है। अतः कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। क्षणिकवाद सिद्धान्त के आधार पर बौद्ध दर्शन में आत्मा अनित्य ही नहीं, बल्कि क्षणिक माना गया है। इसलिए बौद्धों का आत्मवाद सिद्धान्त 'अनात्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्ध इस प्रकार की आत्मा में विश्वास नहीं करते थे जो स्थायी हो। उन्होंने स्थायी तत्त्व को भ्रामक कहा था। शाश्वत आत्मा में विश्वास करनेवालों का मजाक करते हुए उन्होंने कहा कि यह मान्यता कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखने की तरह हास्यास्पद है। मस्तिष्क के विचारों और संवेदना के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। उपनिषद्, वैदिक दर्शन और जैन दर्शन में मान्य आत्मा के विषय में भगवान् बुद्ध चुप दिखलाई पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, आत्म-तत्त्व सिद्धान्त की बौद्धों की व्याख्या यह प्रकट नहीं करती कि चैतन्य का आधारभूत कोई स्थायी आत्मा है।³⁹

उक्त दो बिन्दुओं को ध्यान में रखकर ही हम बौद्धाभिमत आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति समझ सकते हैं; अन्यथा भटक जाने की भारी सम्भावना है। बहुत लोग भटक चुके हैं। बौद्ध 'अनात्मवादी' कहे जाते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे आत्मा को मानते ही नहीं या आत्मा कोई सर्वथा तुच्छाभावरूप वस्तु है, क्योंकि उस दर्शन में भी अन्य आत्मवादी दर्शनों के समान पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल, लोक-परलोक, परजन्म-पुनर्जन्म तथा मोक्ष को मान्यता और महत्ता प्रदान की गई है। अतः स्पष्ट है कि बौद्धों का अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद आत्मा को सर्वथा अभावरूप नहीं कहता। दरअसल गौतम बुद्ध आत्मा को नित्य, शाश्वत या अजर-अमर तत्त्व नहीं मानते और वह भी इसलिए कि उन्हें लगता है कि ऐसा मानने से अहंकार-ममकार बढ़ता है, जो संसार में आवागमन/परिभ्रमण का कारण बनता है।⁴⁰

39. डॉ. लालचन्द जैन, जैन दर्शन में आत्मविचार, पृष्ठ 15-16

40. चूलवेदल्ल सुत्त, मज्झिमनिकाय

गौतम बुद्ध ने वस्तुतः आत्मवादियों की कड़ी आलोचना की है। उनके अनुसार 'आत्मा' अहंकार-ममकार का केन्द्र होने से समस्त क्लेशों और अनर्थों का मूल स्रोत है। 'आत्मा' की मान्यता ही रागादि सर्व दोषों को जन्म देती है, भोगों की तृष्णा और आसक्ति भी उसी से बनती है; उससे कोई विवेक और वैराग्य नहीं बढ़ता। आत्मदृष्टि, आत्ममान, आत्ममोह और आत्मस्नेह ही क्लेश हैं।

अतः उन्होंने लोगों का ध्यान आत्मा पर से हटाया और उन्हें विराग और पूर्ण निर्ममत्व का ही उपदेश दिया और यही उपदेश 'अनात्मवाद' या 'नैरात्म्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें आत्मास्तित्व में विश्वास नहीं था। वे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते थे, लेकिन उसे नित्य और व्यापक न मानकर क्षणिक चित्त-सन्तति रूप स्वीकार करते थे। बस, यही बौद्धदर्शन का अनात्मवाद है और इसीलिए गौतम बुद्ध अनात्मवादी माने जाते हैं।

बौद्ध दर्शन में आत्मा की चर्चा पंचस्कन्धों के माध्यम से भी की गई है। स्कन्ध का अर्थ है— संघात या समुदाय। आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान— इस पाँच स्कन्धों का समुदाय या समुच्चय मात्र है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

इन पंचस्कन्धों को नाम और रूप— इन दो ही भागों में भी बाँटा जा सकता है। रूप का अर्थ है— यह बाह्य शरीर जो रूपी, मूर्तिक या भौतिक है और नाम का अर्थ है— मानसिक प्रवृत्तियाँ जो 4 प्रकार की हैं— वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। प्रिय वस्तु से सुख और अप्रिय वस्तु से जो दुःख आदि चित्त की अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें वेदना कहते हैं। वेदान्त के आधार पर वस्तुओं का ग्रहण करना और फिर उनके गुणों के आधार पर उनका नामकरण करना संज्ञा है। राग, द्वेष, मद, मान, धर्म, अधर्म आदि सभी मानसिक प्रवृत्तियों को संस्कार कहते हैं। 'अहं'— इत्याकारक ज्ञान और रूप, रस, गन्ध, आदि विषयों का इन्द्रियजन्य ज्ञान विज्ञान है।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान— ये सभी उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं और आत्मा इन्हीं पाँच स्कन्धों के समुदाय को कहा जाता है। इनके अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

बौद्ध दर्शन में अभिमत आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए 'मिलिन्दप्रश्न' में आगत दृष्टान्त अत्यन्त रोचक और एकदम सटीक है। उसमें यवनराज मिलिन्द ने भदन्त नागसेन से वार्तालाप करते हुए कहा—

“ ‘आपके ब्रह्मचारी आपको ‘नागसेन’ नाम से पुकारते हैं तो यह नागसेन क्या है? भन्ते, क्या ये केश नागसेन हैं?’

‘नहीं महाराज!’

‘तो ये रोयें नागसेन हैं?’

‘नहीं महाराज!’

‘ये नख, दाँत, चमड़ा, माँस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वक्र, हृदय, यकृत, क्लोम, प्लीहा, आँत, पतली आँत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, लार, नेटा, लासिका, दिमाग, नागसेन हैं?’

‘नहीं महाराज!’

‘भन्ते, तब क्या आपका रूप नागसेन है?...वेदनाएँ नागसेन हैं? संज्ञा...संस्कार...विज्ञान...नागसेन हैं?’

‘नहीं महाराज!’

‘भन्ते, तो क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी एक साथ नागसेन हैं?’

‘नहीं महाराज!’

‘तो क्या इन रूपादिकों से भिन्न कोई नागसेन है?’

‘नहीं महाराज!’

‘भन्ते, मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु नागसेन क्या है— इसका पता नहीं चलता। तो क्या ‘नागसेन’ शब्दमात्र है? आखिर ‘नागसेन’ है कौन? आप झूठ बोलते हैं कि नागसेन कोई नहीं है।’

तब आयुष्यमान् नागसेन ने राजा मिलिन्द से कहा— ‘महाराज, आप अत्रिय बहुत ही सुकुमार हैं। इस दोपहरिये की तपी और गर्म बालू और कंकड़ी से भरी भूमि पर पैदल आये हैं या किसी सवारी पर?’

‘भन्ते, मैं पैदल नहीं आया, रथ पर आया।’

‘महाराज, यदि आप रथ पर आये तो मुझे बतावें कि आपका रथ कहाँ है? क्या ईषा (दण्ड) रथ हैं?’

‘नहीं भन्ते।’

‘क्या अक्ष (धुरे) रथ हैं?’

‘नहीं भन्ते।’

‘क्या चक्के रथ हैं?’

‘नहीं भन्ते।’

‘क्या रथ का पञ्जर...रथ की रस्सियाँ...लगाम...चाबुक रथ हैं?’

‘नहीं भन्ते।’

‘महाराज क्या ईषा अक्ष आदि सब एक साथ रथ हैं?’

‘नहीं भन्ते।’

‘महाराज, क्या ईषा आदि से परे कहीं रथ है?’

‘नहीं भन्ते।’

‘महाराज, मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, परन्तु पता नहीं चला कि रथ कहाँ है? क्या रथ केवल शब्दमात्र है? आखिर यह रथ क्या है? महाराज, आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है। महाराज सारे जम्बूद्वीप के आप सबसे बड़े राजा हैं। भला किसके डर से आप झूठ बोलते हैं?’

तब राजा मिलिन्द ने आयुष्यमान् नागसेन से कहा— ‘भन्ते, मैं झूठ नहीं बोलता। ईषा आदि के अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए ‘रथ’ ऐसा नाम कहा जाता है।’

‘महाराज, बहुत ठीक। आपने जान लिया कि रथ क्या है? इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए ‘नागसेन’— ऐसा एक नाम कहा जाता है। परन्तु परमार्थ में ‘नागसेन’— ऐसा कोई पुरुष विद्यमान नहीं।’⁴¹

मिलिन्द और नागसेन के उक्त संवाद से अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान— इन पाँच स्कन्धों का समूह मात्र है; इनके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि बौद्ध दर्शन में इस प्रकार से पदार्थ की सत्ता ही नहीं मानी गई है तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है?

41. आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृष्ठ 73-74

समाधान— प्रश्न उचित ही है। बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अच्छी तरह से स्वीकार किया गया है। सारी जातक कथाएँ भी इसी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझाने के लिए लिखी गई हैं। यह भी माना गया है कि जो जिस प्रकार का कर्म करता है, वह उसी के अनुसार नवीन जन्म धारण करता है। जो अन्य बौद्धेतर दर्शन इस प्रकार की मान्यता रखते हैं, वे तो आत्मा को स्वतन्त्र और शाश्वत पदार्थ मानते ही हैं, अतः वहाँ कोई विप्रतिपत्ति उपस्थित नहीं होती, किन्तु बौद्ध दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वतन्त्र भी नहीं मानता और शाश्वत भी नहीं मानता, अतः उसके यहाँ पुनर्जन्म की व्यवस्था मानना, वह भी जीव के अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही मानना वास्तव में विचारणीय है।

दरअसल बौद्ध दर्शन में आत्मा को अत्यन्त क्षणिक मानकर भी सतत प्रवाहरूप स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार रात भर जलनेवाला दीपक प्रतिक्षण नवीन-नवीन होते हुए भी सतत प्रवाहरूप होने के कारण एक ही दीपक कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट होता हुआ भी, निरन्तर बदलता हुआ भी सतत प्रवाहरूप अवश्य रहता है, उसकी क्षणिक अवस्था अपना संस्कार अगले क्षण को अवश्य सौंप जाती है, अतः इस बात को मानने में कोई आपत्ति नहीं कि प्रत्येक जीव अपने कर्मों के अनुसार ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है।

मोक्ष का स्वरूप— मोक्ष के लिए बौद्ध दर्शन में अधिकता से 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ है— बुझना। जैसे तेल के क्षय से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अविद्या और क्लेश के क्षय से धीरे धीरे पुरुष निर्वाण प्राप्त करते हैं।⁴²

यह निर्वाण सर्वदृष्टिप्रहाण और सर्वकल्पनाक्षय है। निर्वाण में सर्व प्रकार के क्लेशों या दुःखों का सर्वथा क्षय हो जाता है। दुःख तीन प्रकार के हैं—

1. दुःख-दुःखता— भौतिक एवं मानसिक कारणों से उत्पन्न क्लेश।
2. संस्कार-दुःखता— उत्पत्ति-विनाशशील जगत् में पदार्थों से उत्पन्न क्लेश।

42. महाकवि अश्वघोष, सौन्दरनन्द 16/28-29

3. विपरिणाम-दुःखता— सुख को दुःखरूप में परिणत होने के कारण उत्पन्न क्लेश।

निर्वाण में सभी क्लेशों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। इस निर्वाण का साधन अविद्या की अत्यन्त निवृत्ति है, आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान का साधन श्रवण-मनन-निदिध्यासन है। निर्वाण सर्वक्लेशों के अभावरूप है और सर्वक्लेशों के अभाव का साधन आर्यसत्य का अनुशीलन और अष्टांगिक मार्ग का पालन है। आर्यसत्य के सम्यक् ज्ञान से और सदाचार के अनुष्ठान से साधक सर्व क्लेशों से मुक्ति पा सकता है।

इस प्रकार निर्वाण को बौद्ध दर्शन में दुःखाभावरूप माना गया है, किन्तु बाद में इस विषय पर उनके हीनयान और महायान सम्प्रदायों में मतभेद हो गया है। हीनयान के अनुसार निर्वाण मात्र दुःखाभावरूप है, किन्तु महायान कहता है कि निर्वाण मात्र दुःखाभावरूप नहीं है, अपितु सुखरूप भी है। महायान का निर्वाण सत्तारूप है।

भारतीय दर्शनों में आत्मा तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप

(तुलनात्मक अध्ययन)

विगत अध्यायों में पृथक्-पृथक् रूप से सभी भारतीय दर्शनों के स्वरूप का अध्ययन किया जा चुका है। अब यहाँ उन सभी का जैन दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का लघु प्रयास किया जाता है।

सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा-विषयक समानताएँ

1. प्रायः सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। न केवल स्वीकार करते हैं, उसके अस्तित्व की सिद्धि हेतु अनेक अकाट्य युक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं।

2. प्रायः सभी दर्शनों में आत्मज्ञान पर विशेष बल प्रदान किया गया है। आत्मज्ञान को ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य बनाने की प्रेरणा दी गई है। दर्शनशास्त्र के उद्भव का मूल कारण एवं प्रयोजन आत्मज्ञान ही माना गया है। आत्मज्ञान के बिना सब कुछ असार एवं निष्फल निरूपित किया गया है।

3. प्रायः सभी दर्शनों में आत्मा को अनादिनिधन या अजर-अमर और शरीरादि सर्व बाह्य पदार्थों से भिन्न अमूर्तिक तत्त्व माना गया है।

4. सभी दर्शनों में आत्मा का असली स्वरूप चैतन्य ही माना गया है। चार्वाक दर्शन भी जो आत्मा को भूतचतुष्टय का विशिष्ट परिणमन मात्र कहता है, स्वरूपतः आत्मा को चैतन्य ही स्वीकार करता है।

5. प्रायः सभी दर्शन आत्मा का पूर्वजन्म-पुनर्जन्म भी स्वीकार करते हैं तथा मुक्त होने पर उसे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिल जाता है—यह भी स्वीकार करते हैं।

6. प्रायः सभी दर्शन मोक्ष को आत्मा का चरम लक्ष्य मानते हैं तथा यह

भी स्वीकार करते हैं कि मुक्तावस्था में आत्मा अपने सम्पूर्ण विकारों या दोषों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप में पूर्ण विकसित हो जाती है। दूसरे शब्दों में आत्मलाभ का ही नाम मोक्ष है जिसे मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि अनेक शब्दों से जाना जाता है।

7. मोक्ष का साधन भी प्रायः सभी दर्शनों में तत्त्वज्ञान, भेदज्ञान, ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान को ही माना गया है तथा इसीलिए प्रायः सभी दर्शनों में तत्त्वज्ञान की भरपूर प्रेरणा भी दी गयी है।

सांख्य-योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

सांख्य-योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(क) समानताएँ— सांख्य-योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शनों में आत्मा को प्रकृति या जड़ (अचेतन) पदार्थों से भिन्न माना गया है।
2. दोनों ही दर्शनों में उसे चैतन्यस्वरूप ही स्वीकार किया गया है।
3. दोनों ही दर्शनों में चैतन्य को आत्मा का मूल स्वभाव स्वीकार किया गया है, न्याय-वैशेषिकों की भाँति आगन्तुक गुण नहीं माना गया है।
4. दोनों ही दर्शनों में संख्यापेक्षा अनन्त आत्माएँ मानी गई हैं।

(ख) असमानताएँ— सांख्य-योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्म-विषयक निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. सांख्य दर्शन आत्मा को सर्वथा नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ या निष्क्रिय मानता है, किन्तु जैन दर्शन निश्चय नय से अथवा द्रव्य-अपेक्षा से ही आत्मा को उक्त प्रकार का मानता है, तथा व्यवहार नय से अथवा पर्याय-अपेक्षा से तो उसे अनित्य या परिणामी भी मानता है।

2. सांख्य दर्शन आत्मा को सत्त्व-रज-तम गुणों से रहित और सर्वथा शुद्ध-बुद्ध मानता है, किन्तु जैन दर्शन आत्मा को निश्चय नय से ही वैसा

स्वीकार करता है और साथ ही व्यवहार नय से राग-द्वेषादि युक्त अशुद्ध अज्ञानी भी स्वीकार करता है।

3. सांख्य दर्शन ज्ञान को आत्मा (पुरुष) का गुण नहीं मानता, बल्कि प्रकृति का परिणाम कहता है, किन्तु जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का अपना ही स्वभाव या गुण स्वीकार करता है।

4. सांख्य दर्शन आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानता है, पर जैन दर्शन में आत्मा को निश्चय नय से अकर्ता और व्यवहार नय से कर्ता— दोनों ही स्वीकार किया गया है।

5. सांख्य दर्शन के अनुसार बन्ध-मोक्ष तो प्रकृति का धर्म है, प्रकृति ही बँधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है, आत्मा तो सर्वथा बन्ध-मोक्ष से रहित है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार बन्ध-मोक्ष आत्मा का ही होता है।

6. सांख्य दर्शन आत्मा को निर्गुण-निराकार सर्वव्यापक मानता है, किन्तु जैन दर्शन में आत्मा को सगुण-साकार और देह-परिमाण माना गया है।

7. सांख्य दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा सर्वदुःखों से रहित हो जाता है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार सर्वदुःखों से रहित होने के साथ-साथ अतीन्द्रिय सुख से सहित भी हो जाता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

(क) समानताएँ— न्याय-वैशेषिक और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शन आत्मा को एक ऐसा अभौतिक द्रव्य मानते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सर्व भौतिक द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है।

2. दोनों ही दर्शन संख्यापेक्षा अनेक आत्माएँ स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा है।

3. दोनों ही दर्शन आत्मा को अपने-अपने कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता भी स्वीकार करते हैं।

4. दोनों ही दर्शन आत्मा को स्वभावतः अमूर्तिक मानते हैं। यद्यपि जैन

दर्शन में संसारी आत्मा को कर्मसहित होने से कथंचित् मूर्तिक भी माना गया है।

(ख) असमानताएँ— न्याय-वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में उसे आत्मा का स्वाभाविक गुण माना गया है।

2. न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को सर्वथा नित्य और अपरिणामी मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन आत्मा को कथंचित् (पर्याय-अपेक्षा से) अनित्य और परिणामी भी मानता है।

3. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा विभु है, व्यापक है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह-परिमाण है।

4. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त विशेष गुणों का नाश हो जाता है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं होता, अपितु आत्मा के विशेष गुणों का पूर्ण शुद्ध विकास हो जाता है। वैसे जिन इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि विशेष गुणों का अभाव होना न्याय-वैशेषिक दर्शन में बताया गया है, उनका अभाव तो जैन दर्शन भी मानता है। हाँ, ज्ञान-दर्शन आदि उसके स्वाभाविक विशेष गुणों का अभाव वह नहीं मानता।

मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

(क) समानताएँ— मीमांसा और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों दर्शन मानते हैं कि आत्मा है, चैतन्यस्वरूप है, शाश्वत या अजर-अमर है, स्वयं प्रकाशमान आत्मज्योतिरूप है।

2. संख्यापेक्षा अनेक आत्माएँ हैं।

3. आत्मा स्वयं अपने कर्मों का कर्ता है और स्वयं ही भोक्ता भी है। आत्मा को कर्मफल-प्राप्ति किसी ईश्वरादि के द्वारा नहीं होती।

4. आत्मा अपने इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्मों तक में भी भोग सकता है।

5. भाट्ट मीमांसक और जैन दर्शन दोनों ही इस बात में भी एकमत हैं कि आत्मा ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है।

(ख) असमानताएँ— मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. भाट्ट मीमांसक आत्मा को परिणामी और नित्य मानते हैं तथा प्राभाकर मीमांसक आत्मा को अपरिणामी नित्य मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन में द्रव्यापेक्षा से अपरिणामी नित्य और पर्यायापेक्षा से परिणामी अनित्य माना गया है।

2. प्राभाकर मीमांसक चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं, परन्तु जैन दर्शन चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं, अपितु उसका अपना मूल स्वभाव मानता है।

3. मीमांसा दर्शन में आत्मा को व्यापक माना गया है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह-परिमाण है।

4. मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा सर्व दुःखों से रहित हो जाती है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार वह अतीन्द्रिय स्वाभाविक सुखादि गुणों से सहित भी हो जाती है।

5. मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त विशेष गुणों का नाश हो जाता है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं होता, अपितु आत्मा के विशेष गुणों का पूर्ण शुद्ध विकास हो जाता है। वैसे जिन इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि गुणों का अभाव होना मीमांसा दर्शन में बताया गया है, उनका अभाव तो जैन दर्शन भी मानता ही है, किन्तु ज्ञान-दर्शन आदि उसके स्वाभाविक विशेष गुणों का अभाव वह नहीं मानता।

अद्वैतवेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

(क) समानताएँ— अद्वैतवेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. आत्मा चैतन्यस्वरूप है और उसका यह चैतन्य जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सर्व अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। आत्मा चैतन्य से रहित कभी भी नहीं होता।

2. चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है, अपितु स्वाभाविक गुण है।

3. वेदान्त दर्शन के अनुसार भी आत्मा सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है और जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों की सत्तास्वरूप वस्तु है— अर्थात् सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप ही है।

4. दोनों ही दर्शनों में मोक्ष को भावात्मक माना गया है, अभावात्मक नहीं। आत्मा के पूर्ण शुद्ध एवं स्वाभाविक स्वरूप की प्राप्ति का नाम मोक्ष है जहाँ आत्मा शुद्ध चैतन्य और आनन्द स्वरूप में स्थित रहता है।

5. दोनों ही दर्शनों में मोक्ष की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं— जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति।

(ख) असमानताएँ— अद्वैतवेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. अद्वैतवेदान्त दर्शन में संख्यापेक्षा आत्मा को एक ही माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में अनन्त आत्मा माने गये हैं।

2. अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा को उपाधियों के कारण ही कर्ता-भोक्ता माना गया है, वास्तविक रूप से नहीं; किन्तु जैन दर्शन में आत्मा को मात्र शुद्धनिश्चय नय से ही अकर्ता-अभोक्ता माना है, वरना वह अपने रागादि भावों का कर्ता-भोक्ता तो वास्तव में है ही।

3. दरअसल अद्वैतवेदान्त दर्शन में जीव और आत्मा में बड़ा अन्तर माना गया है। जीव तो संसारी है, किन्तु आत्मा शुद्ध-बुद्ध है। इसी प्रकार जीव अनेक हैं, किन्तु आत्मा एक ही है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक

1. “पोगलकम्मादीणं कत्ता व्यवहारदो दु णिच्चयदो।

चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥”

अर्थात् आत्मा व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्मों का कर्ता है तथा शुद्ध निश्चयनय से शुद्धभावों का कर्ता है।

—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 8

जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होकर अनेकत्व की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक शरीरों में पहुँचकर अविद्या से अनेकत्व की प्रतीति कराता है। किन्तु जैन दर्शन उनकी इस बात से सहमत नहीं है। वहाँ जीव और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, मात्र कथन-शैली का ही अन्तर है, जिसे हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं। इसीलिए जैन दर्शन के अनुसार जीव या आत्मा संख्यापेक्षा अनेक हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न या स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ हैं। वे मोह-राग-द्वेषादि भावों से सहित होने के कारण अशुद्ध कहे जाते हैं और मुक्तदशा में उनका अभाव हो जाने से शुद्ध-बुद्ध कहे जाते हैं।

4. अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में उसे सक्रिय पदार्थ स्वीकार किया गया है।

5. अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा को निरवयवी और व्यापक माना गया है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा सावयवी (सप्रदेशी, बहुप्रदेशी, असंख्यप्रदेशी) और अव्यापक— मात्र देह-परिमाण है।

6. अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है, जो यद्यपि स्थूल अपेक्षा से जैन दर्शन को भी मान्य है, किन्तु वास्तव में जैन दर्शन के अनुसार तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकता ही मोक्षमार्ग है।

7. अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं होता, अपितु जीव अपने स्वाभाविक शुद्ध-बुद्ध रूप में अनन्तकाल तक स्वतन्त्रतया निवास करता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

(क) समानताएँ— विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शन आत्मा की सत्ता में पूर्ण विश्वास करते हैं और उसे शरीर, मन, वाणी व इन्द्रियों से अत्यन्त भिन्न तथा चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक वस्तु मानते हैं।

2. संख्यापेक्षा भी दोनों दर्शनों के अनुसार इस विश्व में अनन्त आत्माएँ हैं जो प्रति शरीर भिन्न-भिन्न हैं, एक ही नहीं है।

3. प्रत्येक आत्मा स्वभावतः ज्ञान-आनन्द स्वरूप है।

4. आत्मा ज्ञातास्वभावी होते हुए भी अपने-अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता भी है।

5. मोक्षावस्था में आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वरूप हो जाता है, उसमें कोई अशुद्धता शेष नहीं रहती।

(ख) असमानताएँ— विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और जीव पर्यायवाची हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है, अतः वे उसे कभी 'आत्मा' शब्द से और कभी 'जीव' शब्द से कह देते हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में इसे सदा 'जीवात्मा' शब्द से ही सम्बोधित किया जाता है।

2. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार यह जीवात्मा ज्ञानानन्द स्वरूप और अपने-अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता होते हुए भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ब्रह्म या ईश्वर ही उसका स्वामी या संचालक है, वही इसे कर्मों का फल प्रदान करता है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं ही अपने कर्मों को करता है और स्वयं ही अपने कर्मों के फल को भोगता भी है। फल प्रदान करने की शक्ति भी कर्मों में ही स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है।

3. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा (जीवात्मा) अणु रूप है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार शरीर-प्रमाण है।

4. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा (जीवात्मा) के अग्रलिखित तीन भेद होते हैं— बद्ध जीव, मुक्त जीव और नित्य जीव। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार दो ही भेद होते हैं— संसारी जीव और मुक्त जीव। संसारी जीव को बद्ध जीव भी कह सकते हैं, किन्तु बद्ध और मुक्त के अतिरिक्त नित्य जीव नाम का कोई अलग से भेद नहीं होता।

5. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार जीवात्मा की विदेह-मुक्ति ही होती है, जीवन-मुक्ति नहीं होती, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति दोनों प्रकार की होती है— जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति।

6. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा मुक्तावस्था में ब्रह्म में

लीन होकर ब्रह्म-सदृश हो जाता है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् और अनादिनिधन पदार्थ है, वह मुक्तावस्था में भी अपने पूर्ण विकसित शुद्ध स्वभाव के साथ स्वतन्त्रतया निवास करता है, किसी अन्य ब्रह्मादि में विलीन नहीं होता।

बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

(क) समानताएँ— बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शनों में चार्वाक-जैसी शरीरात्मवाद की अवधारणा का प्रबल निराकरण किया गया है।
2. दोनों ही दर्शन आत्मा के पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं।
3. दोनों ही दर्शन आत्मा की दुःखमुक्ति हेतु अशुभ कर्मों से निवृत्ति और श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति की प्रेरणा देते हैं।
4. दोनों ही दर्शन निर्वाण या मोक्ष में ही पूर्णतया दुःखमुक्ति मानते हैं और संसारदशा को दुःखरूप ही स्वीकार करते हैं।

(ख) असमानताएँ— उक्त दोनों दर्शनों में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. बौद्ध दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है अनात्मवाद और इसीलिए बौद्धदर्शन एक अनात्मवादी दर्शन के रूप में जाना जाता है, किन्तु जैन दर्शन स्पष्टतया आत्मवादी दर्शन कहलाता है, क्योंकि उसमें आत्मा के अस्तित्व, स्वरूप, भेदादि का विस्तारपूर्वक सभी जैनाचार्यों ने एक-सा वर्णन किया है।
2. बौद्ध दर्शन में आत्मा सत्य वस्तु न होकर काल्पनिक मात्र है अथवा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान— इन पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त कुछ नहीं है; किन्तु जैन दर्शन में ऐसा नहीं है, अपितु आत्मा एक स्वतन्त्र सत्य वस्तु चैतन्यस्वरूप है, रूपादि तो पुद्गल हैं।
3. बौद्ध दर्शन में आत्मा क्षणस्थायी या क्षणिक प्रवाह मात्र है, अतः सर्वथा अनित्य या परिणमनशील है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा द्रव्यापेक्षा नित्य त्रिकालस्थायी अपरिवर्तनशील और पर्यायापेक्षा अनित्य या परिवर्तनशील भी है।

चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

(क) समानताएँ— चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में प्रायः कोई समानता नहीं प्राप्त होती। दोनों ही दर्शनों की मान्यता इस सम्बन्ध में बिल्कुल अलग-अलग है।

तथापि यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि दोनों दर्शन आत्मा को चैतन्यरूप अवश्य स्वीकार करते हैं। चार्वाक दर्शन आत्मा को भले ही भूतचतुष्टय का विशिष्ट परिणमन मात्र मानता हो, तथापि इतना तो कहता ही है कि उस भूतचतुष्टय के परिणमन से जो चैतन्य की उत्पत्ति होती है, वही आत्मा है। अतः सिद्ध होता है कि आत्मा का चैतन्य स्वरूप तो चार्वाक को भी स्वीकृत है। कहा भी है—

“चिदस्तित्वे विवादो न चार्वाकस्यापि तेन च।

भूतसंहतिकार्यस्य ज्ञानरूपस्य कल्पनात्॥”²

अर्थ— आत्मा को चैतन्यस्वरूप मानने में चार्वाकों को भी विवाद नहीं है, क्योंकि उन्होंने भी भूतसंहति का कार्य विशिष्ट ज्ञानरूप ही माना है।

यही दलसुख मालवणिया का भी चिन्तन है—

“समस्त भारतीय दर्शनों में यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध चार्वाक दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसमें और दूसरे दर्शनों में मतभेद यह है कि चार्वाक के अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी वह शाश्वत तत्त्व नहीं, वह भूतों से उत्पन्न होता है।”³

(ख) असमानताएँ— चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. चार्वाक दर्शन नास्तिक एवं अनात्मवादी दर्शन के रूप में विख्यात है, किन्तु जैन दर्शन स्पष्टतः आस्तिक एवं आत्मवादी दर्शन कहलाता है।⁴

2. वादीभसिंहसूरि, स्याद्वादसिद्धि 1/3

3. दलसुख मालवणिया, आत्ममीमांसा, पृष्ठ 36

4. देखो परिशिष्ट (ग)— ‘जैन दर्शन नास्तिक नहीं है’।

2. चार्वाक दर्शन आत्मा नामक किसी वस्तु का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता, किन्तु जैन दर्शन न केवल आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है, अपितु उसके समर्थन में अनेक अकाट्य युक्तियाँ भी प्रस्तुत करता है।

3. चार्वाक दर्शन में शरीर को ही आत्मा माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में शरीर को अचेतन, जड़, पुद्गल आदि कहकर आत्मा को उससे अत्यन्त भिन्न चैतन्यस्वरूप स्वीकार किया गया है।

4. चार्वाक दर्शन में आत्मा पृथिवी, जल, तेज और वायु— इन चार भूतों का विशिष्ट मिश्रण माना गया है, किन्तु जैन दर्शन के ग्रन्थों में इसका सयुक्तिक निराकरण किया गया है और आत्मा को इन चारों भूतों से भिन्न एक स्वतन्त्र चेतन तत्त्व सिद्ध किया गया है।

5. चार्वाक दर्शन में आत्मा के भेद-प्रभेद भी नहीं बताये गए हैं, किन्तु जैन दर्शन में अनेक अपेक्षाओं से आत्मा के अनेक भेद-प्रभेद सोदाहरण समझाये गये हैं।

6. चार्वाक दर्शन में आत्मा के पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को भी नहीं माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में इसे स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। न केवल स्वीकार किया गया है, सयुक्तिक सिद्ध भी किया गया है।

7. चार्वाक दर्शन में आत्मा के पुण्य-पाप या शुभ-अशुभ कर्मों का कोई विवेचन नहीं मिलता है, जबकि जैन दर्शन में उनका स्पष्ट विवेचन भी किया गया है और उनमें हेयोपादेय-विज्ञान भी कराया गया है।

8. चार्वाक दर्शन के अनुसार मोक्ष नाम की कोई चीज नहीं होती अथवा मृत्यु का ही दूसरा नाम मोक्ष है, जो अभावात्मक है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा की पूर्ण शुद्ध दशा का प्रकट होना मोक्ष है, जो सद्भावात्मक है।⁵

9. चार्वाक दर्शन में मोक्षमार्ग का भी कोई वर्णन नहीं किया है, किन्तु जैन दर्शन में मोक्षमार्ग का वर्णन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है— 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'⁶ इत्यादि।

5. "आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।

नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥"—सोमदेवसूरि, यशस्तिलक 6/116

6. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र 1/1

आत्मा-सम्बन्धी विविध वाद और उनकी जैनदृष्टि से समीक्षा

कहा जा चुका है कि 'आत्मा' सभी भारतीय दर्शनों का एक अत्यन्त प्रमुख विषय है। प्रायः सभी दर्शनों में आत्मा के सम्बन्ध में अनेक बातों में एकरूपता होने के बावजूद पर्याप्त मतभेद भी पाया जाता है, फलस्वरूप अनेक वादों का भी उद्भव हो गया है। शास्त्रों में उन सभी वादों पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक ऊहापोह उपलब्ध होता है। यहाँ हम अति संक्षेप में उनकी भी चर्चा एवं समीक्षा करना उपयुक्त समझते हैं, ताकि आत्मा का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो सके। ध्यातव्य है कि यहाँ यह समीक्षा जैनदृष्टि से ही की जा रही है।

(1) भूतात्मवाद— इसे भूतचैतन्यवाद भी कहते हैं। यह चार्वाकों का सिद्धान्त है। उनका मानना है कि आत्मा इस शरीर से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु— ये चार भूत ही मिलकर जब इस देह के रूप में उत्पन्न होते हैं, तो उसमें सहजरूप से चैतन्य की उत्पत्ति भी हो जाती है, जिसका शरीर के नाश के साथ ही नाश भी हो जाता है, पुनर्जन्म आदि कुछ नहीं होता।

परन्तु जैनाचार्यों के अनुसार यह मत समीचीन नहीं है। चार क्या, चालीस अचेतन भी मिलकर कभी एक चेतन को उत्पन्न नहीं कर सकते। चेतन, चेतन ही रहता है और अचेतन, अचेतन ही। तथा शरीर से भिन्न आत्मा की सिद्धि भी अनेक युक्तियों द्वारा स्पष्टतया की जा सकती है, जैसा कि पहले विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है।

(2) देहात्मवाद (शरीरात्मवाद)— कुछ चार्वाक आदि शरीर को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है, शरीर का जन्म और मरण ही आत्मा का जन्म-मरण है। मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, आदि वाक्य भी हम सदैव बोलते रहते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि

यह शरीर ही आत्मा है।

शरीरात्मवादियों के अनुसार यदि कोई शरीर से भिन्न आत्मा होता तो प्रिय से प्रिय व्यक्ति भी मृत्यु के बाद लौट कर समाचार देने क्यों नहीं आता? अथवा— शरीर को कितना ही चीर-फाड़ करके देखो, आत्मा मिलता क्यों नहीं? अथवा— मृत्यु के बाद आत्मा के निकल जाने पर भी व्यक्ति का वजन एक ग्राम भी कम क्यों नहीं होता? अथवा— मृत्यु से पूर्व व्यक्ति को बन्द पेटी में रखने पर भी मरते समय पेटी तोड़कर आत्मा निकलता हुआ क्यों नहीं दिखाई देता? अतः सिद्ध होता है कि शरीर से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं, शरीर ही आत्मा है।⁷

परन्तु जैनाचार्यों के अनुसार यह मत भी समीचीन नहीं है। यदि शरीर ही आत्मा है तो मोटे शरीर में अधिक ज्ञानादि और छोटे शरीर में कम ज्ञानादि पाये जाने चाहिए, जबकि ऐसा नहीं है। चेतना शरीर का धर्म ही नहीं है। तथा मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, आदि वाक्यों का प्रयोग तो सभी लोग औपचारिक रूप से करते हैं। जिस प्रकार विश्वसनीय नौकर को मालिक यह कहने लगता है कि यह नौकर मैं ही हूँ, जबकि वे दोनों स्पष्ट अलग-अलग हैं; उसीप्रकार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं और व्यावहारिक रूप से ही अभिन्न प्रतीत होते हैं।⁸

(3) इन्द्रियात्मवाद— कुछ चार्वाक आदि इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर ही पदार्थों का ज्ञान होता है और उनके अभाव में नहीं होता है, अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।⁹

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। इन्द्रियाँ स्वयं चेतनस्वरूप नहीं हैं। मात्र अचेतन करण (साधन) रूप हैं। जिस प्रकार चश्मा आदि अचेतन करण

7. (क) पयासीसुत्त, दीघनिकाय

(ख) रायपसेणीय सुत्त

8. (क) आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, 1/7

(ख) आचार्य प्रभाचन्द्र, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 1, पृष्ठ 349

9. 'पश्यामि शृणोमीत्यादि प्रतीत्या मरणपर्यन्तं।

यावन्तीन्द्रियाणि तिष्ठन्ति तान्येवात्मा ॥'

—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, 5/36, पृष्ठ 141

भी आत्मा के ज्ञान में निमित्त होते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी आत्मा के ज्ञान में निमित्त मात्र होती हैं। यदि इन्द्रियाँ स्वयं चेतनरूप हों और जानने का कार्य करती हों तो मृतक प्राणी की इन्द्रियाँ क्यों नहीं जानती? तथा यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हों तो वे एक शरीर में अनेक हैं अतः आत्मा भी एक शरीर में अनेक मानने होंगे। तीसरी बात, यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हों तो चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट क्यों नहीं होता? चौथी बात, इन्द्रियों के बिना भी हमें स्मरणादि ज्ञान होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा इन्द्रियों से उसी प्रकार भिन्न है, जिस प्रकार खिड़कियों से देखनेवाला पुरुष खिड़कियों से भिन्न होता है।¹⁰

(4) मानसात्मवाद— कुछ चार्वाक मन को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि मन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके, मन के सक्रिय होने पर ही इन्द्रियाँ अपने विषय को जान सकती हैं, अतः मन ही आत्मा है।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। इन्द्रियों की भाँति मन भी करण (ज्ञान का साधन) मात्र है। तथा उन चार्वाकों ने इस मन को भी पृथ्वी आदि भूतों का ही विकार माना है अतः यह भी उन भूतों के समान अचेतन ही सिद्ध होता है, चेतन नहीं। हाँ, यदि नित्य ज्ञानमय तत्त्व को मन मानकर उसे आत्मा माना जाए तो कोई आपत्ति नहीं है।¹¹

(5) प्राणात्मवाद— कुछ चार्वाक प्राण को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि प्राण के निकल जाने पर शरीर व इन्द्रियाँ भी सब निष्फल निष्क्रिय हो जाते हैं और 'उपनिषदों'¹² में भी तो प्राणों को ही आत्मा कहा है, अतः प्राण ही आत्मा हैं, प्राणों के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उनके ही अनुसार ये प्राण भी पृथ्वी आदि भूतों के विकार हैं जो अचेतन ही सिद्ध होते हैं। पाँच इन्द्रियों,

10. (क) आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड 1/7

(ख) हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 246

11. आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड 1/7

12. (क) तैत्तिरीयोपनिषद् 2/2/3

(ख) छान्दोग्योपनिषद् 3/15/4

मन-वचन-काय, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप दसों प्राणों को जैन दर्शन में पौद्गलिक एवं अचेतन ही माना है। हाँ, यदि चेतनारूप भाव प्राणों को आत्मा कहा जाए तो हमें कोई आपत्ति नहीं।

(6) अव्याकृतवाद— इसे बौद्ध दर्शन में स्वीकार किया गया है। महात्मा गौतम बुद्ध का कहना था कि आत्मा अव्याकृत है— अप्रयोजनभूत है। दुःखनिवृत्ति के लिए उसे कहने-समझने की कोई आवश्यकता नहीं है।

परन्तु यह कोरी आत्मवंचना है। दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति के लिए आत्मा को जानना आवश्यक ही नहीं, एकदम अनिवार्य है। आत्मा को जाने बिना कौन, किसका, किस प्रकार दुःख दूर कर सुख की प्राप्ति कर सकेगा?

(7) अनात्मवाद— इसे भी बौद्ध दर्शन में ही स्वीकार किया गया है। बौद्धों का कहना है कि आत्मा की बात से अहंकार और ममकार की उत्पत्ति होती है, जो संसार में आवागमन का कारण बनता है, अतः आत्मा और उसकी चर्चा में किंचित् भी मोह एवं राग नहीं रखना चाहिए।¹³

किन्तु यह मत भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता। एक तो स्वयं ही इस मत की अवधारणा स्पष्ट नहीं है। बौद्धों में ही इस मत को लेकर अनेक मतभेद पाये जाते हैं। कोई इसका अर्थ पुद्गलनैरात्म्यवाद करता है और कोई पुद्गलास्तित्वाद, आदि। दूसरी बात— आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने-समझने से अहंकार-ममकार नहीं होता, अपितु तत्त्वज्ञान होता है जो दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति के लिए परमावश्यक है। अहंकार-ममकार तो परपदार्थों को अपना मानने से होता है।

(8) नैरात्म्यवाद— यह भी बौद्धों का मत है। उनका कहना है कि आत्मा को मानना ही नहीं चाहिए, क्योंकि आत्मा को 'स्व' मानने से दूसरों को 'पर' मानना होगा। 'स्व' और 'पर' का विभाग होते ही 'स्व' का परिग्रह और 'पर' से द्वेष भी होगा और फिर उनसे ही राग-द्वेषमूलक सैकड़ों दोष और भी उत्पन्न हो जायेंगे।¹⁴

परन्तु ऐसा मानना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि 'स्व' को 'स्व' मानना

13. चूलवेदल्लसुत्त, मज्झिमनिकाय

14. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, 1/221

परिग्रह नहीं होता, अपितु 'पर' को 'स्व' मानना परिग्रह होता है। इसी प्रकार 'स्व' को 'स्व' और 'पर' को 'पर' मानने से कोई राग-द्वेष नहीं होते, राग-द्वेष तो परपदार्थों को इष्ट और अनिष्ट मानने से उत्पन्न होते हैं। 'स्व' को 'स्व' और 'पर' को 'पर' मानना तो सम्यग्ज्ञान है, उससे राग-द्वेष कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? उससे तो राग-द्वेष मिटते हैं।

(9) पंचस्कन्धवाद— यह भी बौद्धों का ही मत है। वे कहते हैं कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान— ये पाँच स्कन्ध हैं और आत्मा इन पाँचों स्कन्धों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

परन्तु उनकी यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह भी चार्वाकों के भूतचैतन्यवाद-जैसा ही है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान तो फिर भी चेतनात्मक हो सकते हैं पर रूप तो चार्वाकों के जड़भूत जैसा ही है, जिससे कथमपि चेतनतत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वैसे भी कभी आत्मा को 'अव्याकृत' कहना और कभी पंचस्कन्धरूप कहना पूर्वापरविरोधयुक्त है और जिज्ञासु को संशय में डालता है।

(10) क्षणिकात्मवाद— यह भी बौद्धों का मत है। वे आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं, परन्तु यह समीचीन नहीं है। आत्मा पर्याय-अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तनशील होते हुए भी अपने मूल स्वभाव से नित्य भी है, अन्यथा कर्म एवं कर्मफल आदि की व्यवस्था और स्मृति आदि सर्व व्यवहारों के लोप का प्रसंग उत्पन्न हो जाएगा। जैनाचार्यों ने तो इसीलिए न केवल आत्मा को, बल्कि प्रत्येक वस्तु को ही नित्यानित्यात्मक सिद्ध किया है, क्योंकि सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर वस्तु में कोई अर्थक्रिया ही सिद्ध ही नहीं होती।

(11) विभु-आत्मवाद— इसे व्यापक-आत्मवाद भी कहते हैं। प्रायः सभी वैदिक दर्शनों में आत्मा को विभु या सर्वत्र व्यापक माना गया है।

किन्तु इसे मानने में आपत्ति यह है कि प्रत्यक्ष ही अपने आत्मा के सुख, दुःख, ज्ञानादि गुण अपने शरीर से बाहर नहीं प्रतीत होते, अतः उन गुणों का स्वामी आत्मा भी शरीर से बाहर कैसे माना जा सकता है? यदि आत्मा को सर्वव्यापक माना जाए तो एक के भोजन करने पर अन्यो को भी तृप्ति होनी चाहिए— इत्यादि प्रकार से सर्वव्यवहार का संकर हो जाएगा। पत्नी के पेट

का दर्द पति के दवाई खाने से नहीं मिटता, पत्नी को ही दवाई खानी पड़ती है— इससे सिद्ध होता है कि दोनों की आत्मा एक नहीं है, अलग-अलग है।¹⁵

(12) अणु-आत्मवाद— इसे अणुपरिमाणवाद भी कहते हैं। कुछ वैदिक दर्शन (द्वैत वेदान्ती) मानते हैं कि आत्मा वटकणिका मात्र या अणु-समान है और वह मात्र हृदय-प्रदेश में रहता है, सम्पूर्ण शरीर में नहीं।

परन्तु यह भी समीचीन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि रोमांचादि के द्वारा सर्वांगों में सुख-दुःख की अनुभूति होती देखी जाती है। यदि आत्मा मात्र हृदय में ही हो तो सम्पूर्ण शरीर में सुख-दुःख का अनुभव होना असम्भव था।

(13) एकात्मवाद— वेदान्त दर्शन कहता है कि इस विश्व में आत्मा एक ही है, अनेक नहीं; हमें जो अनेक आत्माएँ दिखाई देती हैं, वह उसी प्रकार हैं जैसे एक ही चन्द्रमा के अनेक जलपात्रों में अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं।

परन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। सुखी, दुःखी, पापी, पुण्यात्मा आदि के भेद इतने स्पष्ट दिखाई देते हैं कि उनको कदापि एक नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा चन्द्र-प्रतिबिम्ब के समान एक ही हो तो सबको चन्द्र-बिम्ब के ही समान एक-सा ही होना चाहिए था। कोई दुखी है, कोई सुखी है, कोई पापी है, कोई पुण्यात्मा है, कोई मिथ्यादृष्टि है, कोई सम्यग्दृष्टि है, कोई आसक्त है, कोई विरक्त है, इत्यादि प्रकार की भिन्नताएँ क्यों दिखाई देती हैं?¹⁶ सबको एक-सा ही होना चाहिए था। तथा यदि आत्मा एक ही हो तो जो पाप करता है वही नरकादि के दुःख क्यों भोगता है, दूसरा क्यों नहीं भोगता? तथा पदार्थों का स्मरण भी दूसरे को क्यों नहीं होता, उसी को क्यों होता है? इत्यादि प्रकार से सिद्ध होता है कि आत्मा वस्तुतः एक नहीं अनेक हैं।

(14) ब्रह्मांशवाद— वेदान्त दर्शन कहता है कि हम सभी आत्माएँ एक ब्रह्म या परमब्रह्म के अंशरूप हैं, उसी से निकलते हैं और उसी में समा जाते हैं। परन्तु उनका मत भी एकात्मवाद के समान ही युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता।

15. आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 570

16. सूत्रकृतांग 1/1/1/10

(15) ज्ञानशून्यवाद— सांख्य, वैशेषिक आदि कुछ दर्शन आत्मा को स्वभाव से चेतन नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा स्वयं तो ज्ञानशून्य है, परन्तु जब उसमें ज्ञानगुण का समवाय सम्बन्ध हो जाता है, तब वह ज्ञानी या चेतन कहा जाता है।

परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा स्वभाव से ही चेतन न हो तो जड़ और चेतन का मूल भेद ही समाप्त हो जायेगा। जिस प्रकार अग्नि स्वभाव से उष्ण है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वभाव से ही ज्ञानी या चेतन है। ज्ञान या चैतन्य आत्मा से पृथक् नहीं पाया जाता है।¹⁷

(16) अकर्तावाद— सांख्य दर्शन आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानता है। उसका कहना है कि आत्मा तो मात्र भोक्ता है, कर्ता नहीं।

यद्यपि निश्चय से आत्मा को अकर्ता कहना अनुचित नहीं है, पर व्यवहार से वह अपने पुद्गलकर्मों का कर्ता है ही। अपने राग-द्वेषादि भावों का तो वह निश्चय से भी कर्ता है और फिर जब उसे 'भोक्ता' माना तो 'भुज्' क्रिया का कर्ता तो हो ही गया न; अतः आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानना ठीक नहीं है।

(17) निष्क्रिय-आत्मवाद— सांख्य दर्शन में आत्मा को सर्वथा नित्य, निष्क्रिय, अपरिणामी या कूटस्थ माना गया है। उसके अनुसार कोई भी क्रिया तभी सम्भव है जब सत्, रज और तम गुण हों, किन्तु आत्मा (पुरुष) में ये गुण नहीं होते, अतः वह निष्क्रिय है। मात्र प्रकृति ही सक्रिय है।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। आत्मा अपने मूलस्वभाव की अपेक्षा नित्य या शाश्वत होते हुए भी पर्यायापेक्षा से सक्रिय है, क्रियाशील है, क्योंकि उसमें उत्पाद-व्यय रूप अवस्था-परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। यदि आत्मा निष्क्रिय ही होता तो उसके निमित्त से शरीर में भी क्रिया नहीं हो सकती थी।¹⁸

17. (क) आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 27

(ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 180

18. आचार्य विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 5/7/17-19

भारतीय दर्शनों में
परमात्मा या ईश्वर की अवधारणा

जैन दर्शन में परमात्मा का स्वरूप

वैसे तो एक अपेक्षा से जैनाचार्यों ने हर आत्मा को ही परमात्मा कहा है, चाहे वह कोई भी हो और किसी भी अवस्था में हो। उनका स्पष्ट उद्घोष है कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। परन्तु ध्यान रहे, यहाँ हमारा अभिप्राय उस परमात्मा से नहीं है। हमारा अभिप्राय तो यहाँ उस शुद्ध-बुद्ध परमात्मा से है जिसे भगवान के रूप में जाना जाता है।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बतानेवाली अपेक्षा भी कोई साधारण अपेक्षा नहीं है, बड़ी ही महत्त्वपूर्ण विवक्षा है और सभी जैनाचार्यों ने उस पर बहुत अधिक बल भी प्रदान किया है। यथा—

1. यहाँ तक कहा है कि उस शुद्ध-बुद्ध² परमात्मा को तो सारा जगत् ही परमात्मा कहता-मानता है, परन्तु सच्चा ज्ञानी तो वह है जो इस शरीर में स्थित आत्मा को ही परमात्मा समझता है। यथा—

“तित्थइ देउलि देउ जिणु, सव्वु वि कोइ भणेइ।

देहा-देवलि जो मुणइ, सो बुहु को वि हवेइ॥”³

अर्थात् तीर्थों और देवालयों में देव है— ऐसा तो सभी कहते हैं, किन्तु जो ऐसा मानता है कि देव तो अपने देह-देवालय में ही विद्यमान है, वह कोई विरला ज्ञानी होता है।

2. आत्मा के स्वरूप का वर्णन करनेवाले ग्रन्थों के नाम ही उन्होंने परमात्मप्रकाश, समयसार आदि रखे हैं जिनका शाब्दिक अर्थ 'परमात्मा' या 'शुद्धात्मा' जैसा ही होता है।

1. मुनिराज योगीन्दु, परमात्मप्रकाश

2. शुद्ध = सर्व रागादि विकारों से रहित, वीतराग। बुद्ध = पूर्ण ज्ञानी, सर्वज्ञ।

3. मुनिराज योगीन्दु, योगसार, दूहा 45

3. अनेक स्थानों पर 'आत्मा' को ही 'परमेश्वर' और 'भगवान आत्मा' जैसे शब्दों से कहकर सम्बोधित कर दिया है। यथा—

“यो हि...अप्रतिबुद्धः... गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च।”⁴

तथा—

“भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलम्भकत्वादत्यन्तं शुचिरेव।”⁵

4. अनेक प्रकार से तुलना करके आत्मा और परमात्मा दोनों को पूर्णतः समान ही सिद्ध कर दिया है। यथा—

“जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लियजीव तारिसा होंति।

जरमरणजम्ममुक्का अट्टगुणालंकिया जेण ॥

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।

जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥”⁶

अर्थ— लोकाग्र में स्थित सिद्धात्मा जैसे हैं, भवमलिन संसारी जीव भी वैसे ही हैं— जन्म-मरण से रहित, अष्टगुणालंकृत, अशरीरी, अविनाशी, अनिन्द्रिय, निर्मल और विशुद्ध।

इसी प्रकार का भाव अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रकट किया गया है। यथा—

“यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥”⁷

अर्थात् जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है, अतः वास्तव में देखा जाए तो मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ— ऐसी स्थिति है।

तथा—

“जेहउ णिम्मल णाणमउ, सिद्धिहि णिवसइ देउ।

तेहउ णिवसइ बंभु पर, देहहं मं कर भेउ ॥”⁸

अर्थ— जैसा निर्मल ज्ञानमय देव सिद्धलोक में निवास करता है, ठीक

4. आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार-टीका, गाथा 38

5. आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार-टीका, गाथा 72

6. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, गाथा 47-48

7. आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र 31

8. मुनिराज योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, दूहा 1/26

वैसा ही परब्रह्म इस देह में भी निवास करता है, अतः हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान और अपने में भेद मत कर।

5. युक्तिपूर्वक भी सिद्ध किया है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से परमात्मा ही है, क्योंकि उसमें परमात्म-शक्ति निहित है, अन्यथा कोई भी आत्मा आगे चलकर पुरुषार्थ करके अपने रागादि विकारों का त्याग करके परमात्मा कैसे बन जाता है? प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है— इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से परमात्मा है।⁹

6. कुछ आचार्यों ने परमात्मा के ही निम्न प्रकार से दो भेद निरूपित कर दिये हैं—

(क) कार्य परमात्मा

(ख) कारण परमात्मा

जिस पूर्ण शुद्ध-बुद्ध परमात्मा को सारी दुनिया परमात्मा कहती-मानती है, वह कार्य परमात्मा है और जो सभी जीवों में निहित परमात्म-शक्ति है, जिसके श्रद्धान-ज्ञान-आश्रय से कोई भी आत्मा परमात्मा बन सकता है, वह कारण परमात्मा है।¹⁰

इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक आत्मा को ही स्वभावतः परमात्मा मानने का आग्रह प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार यद्यपि सभी जैनाचार्यों ने एक अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा को ही परमात्मा कहा है और न केवल कहा है, अपितु उसे सयुक्तिक सिद्ध करते हुए उस पर अत्यधिक बल भी प्रदान किया है, तथापि यहाँ हमारा उद्देश्य तो उस शुद्ध-बुद्ध परमात्मा के स्वरूप का अध्ययन करना है, जो साक्षात् परमात्मा है और जिसे दुनिया में भगवान, ईश्वर आदि हजारों नामों से जाना जाता है।

पुनश्च, यह शुद्ध-बुद्ध परमात्मा भी जैन-ग्रन्थों में दो प्रकार का बताया गया है— 1. सकल परमात्मा और 2. निकल परमात्मा; जिनको जैन दर्शन

9. पण्डित टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार

10. मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार-टीका, गाथा 7, 38, 177, 178

की विशिष्ट शब्दावली में क्रमशः 'अरिहन्त' और 'सिद्ध' भी कहा जाता है। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में हमारा विशेष अभिप्राय निकल परमात्मा या सिद्ध परमात्मा से ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन के अनुसार यह शुद्ध-बुद्ध परमात्मा भी दो प्रकार का है¹¹—

1. सकल परमात्मा या अरिहन्त परमात्मा।
2. निकल परमात्मा या सिद्ध परमात्मा।

'कल' शब्द का अर्थ यहाँ शरीर है।¹² 'सकल' अर्थात् सशरीर और 'निकल' अर्थात् शरीर-रहित। सकल परमात्मा या अरिहन्त परमात्मा शरीर से सहित होते हैं और निकल परमात्मा या सिद्ध परमात्मा शरीर से रहित होते हैं।

दरअसल, कुछ अन्य दर्शनों की भाँति जैन दर्शन में भी मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है— 1. जीवनमुक्ति और 2. देहमुक्ति। और परमात्मा के उक्त दो भेद इसी अपेक्षा से किये गये हैं।

जब कोई आत्मा अपने राग-द्वेषादि सर्व विकारों से पूर्णतः रहित हो जाता है और पूर्ण वीतराग एवं सर्वज्ञ हो जाता है, किन्तु अभी निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता है, इस शरीर में ही निवास करता है, तब उसे निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व तक जीवनमुक्त, अरिहन्त या सकल परमात्मा कहते हैं, क्योंकि वह शरीर-सहित इस संसार में रहता है। तथा निर्वाण प्राप्त होने के बाद उसी परमात्मा को शरीर से भी रहित हो जाने के कारण देहमुक्त, सिद्ध या निकल परमात्मा कहते हैं।

इस प्रकार वास्तव में परमात्मा दो प्रकार का नहीं होता, अपितु परमात्मा की अवस्थाएँ दो होती हैं— पहली अरिहन्त अवस्था है और दूसरी सिद्ध अवस्था। सभी परमात्मा पहले अरिहन्त दशा में पहुँचते हैं और बाद में शरीर से भी रहित होकर सिद्ध बनते हैं।

अरिहन्त और सिद्ध— इन दोनों अवस्थाओं में यद्यपि वीतरागता और

11. (क) "सकल निकल परमात्म द्वैविध..." — पण्डित दौलतराम, छहढाला 3/5
(ख) "परमप्पा वि य दुविहा अरिहन्ता तह य सिद्धा य।" — कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 192
12. "सह कलया शरीरेण वर्तते इति सकलः।" — समाधितन्त्र, टीका 2

सर्वज्ञता की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं होता, दोनों समान ही होते हैं; किन्तु बाहर में यह अन्तर होता है कि अरिहन्त शरीर-सहित होते हैं इसलिए उनका स्थान-स्थान पर जगत् के कल्याणार्थ विहार और प्रवचन भी होता है, जो कि सिद्धों के नहीं होता, क्योंकि वे तो शरीर से भी रहित हो चुके होते हैं, निर्वाण को ही प्राप्त कर चुके होते हैं।

यही कारण है कि सिद्ध परमात्मा श्रेष्ठ होते हैं, तथापि उपकार की अपेक्षा से अरिहन्तों को सिद्धों से भी पहले नमस्कार करने की परम्परा प्रचलित है।

अरिहन्त उपदेश देते हैं, अतः उन्हें वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी— इन तीन गुणों से स्मरण किया जाता है, किन्तु सिद्धों को मात्र वीतराग और सर्वज्ञ— इन दो गुणों से ही स्मरण किया जाता है, उन्हें हितोपदेशी नहीं कहा जाता।

उपदेशक होने के कारण तीर्थंकर, आप्त, मोक्षमार्गनेता आदि परमात्मा के अनेक नाम मात्र अरिहन्तों पर ही घटित होते हैं, सिद्धों पर नहीं।

इस प्रकार यद्यपि उपकार की अपेक्षा से अरिहन्तों को सिद्धों से भी अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु वह औपचारिक ही है। वास्तव में तो सिद्ध परमात्मा ही पूर्ण मुक्त होने से सही अर्थों में परमात्मा हैं।¹³

अतः प्रस्तुत प्रकरण में सर्वत्र 'परमात्मा' शब्द का अर्थ निकल परमात्मा अथवा देहमुक्त सिद्ध परमात्मा ही समझना चाहिए। यदि शरीर सम्बन्धी अन्तरों को गौण कर दिया जाए तो उसी में सकल परमात्मा का स्वरूप भी गर्भित हो जाएगा तथा अन्यमताभिमत परमात्मस्वरूप के समीक्षण में भी सुविधा होगी।

जैन दर्शन के अनुसार इस परमात्मा का स्वरूप वचन-अगोचर है, क्योंकि इसमें अनन्त विशेषताएँ होती हैं जो कही नहीं जा सकतीं; किन्तु कतिपय प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखितानुसार हैं—

1. परमात्मा अन्य कुछ नहीं, अपितु आत्मा की ही पूर्ण शुद्ध दशा का

13. "सिद्धस्तु साक्षात् परमात्मेति।" — ब्रह्मदेवसूरि, बृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका, गाथा 44

नाम है।¹⁴ यही कारण है कि उसे शुद्धात्मा, सिद्धात्मा या मुक्तात्मा भी कहा जा सकता है। इन सभी शब्दों में परस्पर कोई अर्थभेद नहीं है।

2. परमात्मा अनादि काल से बना-बनाया नहीं होता, अपितु पुरुषार्थ करके बनता है।¹⁵ यद्यपि एक बार बनने के बाद वह कभी नष्ट (मलिन) नहीं होता— अनन्त ही होता है; किन्तु अनन्त होते हुए भी अनादि नहीं होता, जैसा कि कुछ दर्शन कहते हैं कि परमात्मा या ईश्वर शाश्वत काल से ही, अनादि काल से ही कर्ममल से रहित है।

जैन दर्शन के अनुसार तो अनादि-काल से प्रत्येक आत्मा कर्ममल से सहित ही होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि स्वर्ण (स्वर्ण-पाषाण) प्रारम्भ से ही किट्टि-कालिमा सहित होता है। तथा जिस प्रकार उसे खूब तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी तपादि द्वारा अपने रागादि मल का नाश करके शुद्ध हो जाता है और पूर्ण शुद्ध होने के बाद पुनः कभी अशुद्ध नहीं होता। जिस प्रकार अशुद्ध स्वर्ण एक बार शुद्ध हो जाने के बाद—पूर्ण शुद्ध स्वर्ण बन जाने के बाद पुनः कभी अशुद्ध नहीं होता, पुनः अशुद्ध स्वर्ण-पाषाण नहीं बनता¹⁶, उसी प्रकार आत्मा एक बार शुद्ध हो जाने के बाद, परमात्मा बन जाने के बाद पुनः अशुद्ध या संसारी नहीं बनता— राग-द्वेषरूप होकर जन्म-मरण नहीं करता।

जिस प्रकार दूध से तो घी बनता है परन्तु घी पुनः दूध नहीं बन सकता, धान से तो चावल बनता है परन्तु चावल पुनः धान नहीं बन सकता, तिल से तो तेल बनता है परन्तु तेल पुनः तिल नहीं बन सकता; उसी प्रकार संसारी

14. “अयमात्मा स्वयं साक्षात् परमात्मेति निश्चयः।

विशुद्धध्याननिर्धूतकर्मैन्धनसमुत्करः॥”

अर्थात् जब यह आत्मा विशुद्ध ध्यान से सम्पूर्ण कर्मरूपी ईंधन को भस्म कर देता है तब यह आत्मा ही साक्षात् परमात्मा हो जाता है— यह निश्चय है।

—आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव 21/7

15. यही कारण है कि विद्वानों ने जैन दर्शन को ‘परमात्मा बनने का विज्ञान’ कहा है। देखो बाबूलाल जैन की कृति ‘परमात्मा बनने का विज्ञान : जैनधर्म’ 2/10 सन्मति विहार, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

16. “युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः।

पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः कीटेन युज्यते॥”

—आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत्य 9/53

आत्मा से तो परमात्मा बना जाता है परन्तु परमात्मा पुनः कभी संसारी आत्मा नहीं बन सकता।¹⁷

3. परमात्मा संख्यापेक्षा एक नहीं, अनन्त होते हैं; क्योंकि जगत् में विद्यमान अनन्त आत्माओं में से जो भी आत्मा अपने मोह-राग-द्वेषादि विकारों का पूर्णतः त्याग कर देता है, वही वीतराग-सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आदि हो जाने से परमात्मा बन जाता है। आज तक अनन्त जीव ऐसा कर चुके हैं और भविष्य में भी यह मार्ग कभी बन्द नहीं होगा। जो भी जीव पुरुषार्थ करेगा, वही अपने सर्व विकारों का त्याग कर पूर्ण शुद्ध दशा परमात्मदशा को प्राप्त कर लेगा। इसीलिए जैन दर्शन में रागादि सर्व विकारों को त्याग कर पूर्ण शुद्ध दशा परमात्मदशा प्रकट करने की प्रक्रिया विस्तारपूर्वक बताई गई है जिसकी चर्चा हम आगे संक्षेप में करेंगे। परन्तु यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा एक नहीं, अनन्त होते हैं।

4. अनन्त होते हुए भी सभी परमात्मा एक-जैसे होते हैं, उनमें कोई छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, गोरा-काला, अल्पबुद्धि-तीव्रबुद्धि, अधिक सुखी-कम सुखी आदि किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं होता; क्योंकि ये सब भेद तो संसार दशा में ही बाह्य संयोगों की अपेक्षा से होते हैं। परमात्मा तो इन सर्व संयोगों से मुक्त अजर-अमर-अशरीरी हो चुके हैं।

वहाँ उनका जीवन पूर्णतः शुद्ध एवं आत्माधीन होता है, अतः उनमें किसी प्रकार का कोई भी भेद नहीं बचता। अतः हम यह तो कह सकते हैं कि परमात्मा एक-जैसे हैं, किन्तु यह नहीं कह सकते कि परमात्मा एक ही

17. (क) “जहाँ दड्ढाणं वीयाणं ण जायंति पुणरंकुरा।

कम्मबीएसु दड्ढेसु न जायंति भवांकुरा ॥” —दशाश्रुतस्कन्ध, 5/15

(ख) “दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥”

—तत्त्वार्थवार्तिक 10/4 पर उद्धृत

(ग) पं. दौलतराम कासलीवाल, चतुर-चितारणी, छन्द 139 से 146

(घ) “मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥” —भगवद्गीता 8/15,21

है। हाँ, यदि जिस प्रकार लोक में समानता के उपचार से ऐसा कह दिया जाता है कि हम सब एक हैं, उसी प्रकार परमात्मा के विषय में भी यह कह दिया जाए कि परमात्मा एक है तो कोई दोष नहीं, किन्तु यदि ऐसा ही मान लिया जाए कि संख्यापेक्षा भी परमात्मा एक ही है तो मिथ्या है।

सम्भव है कि लोक में 'परमात्मा एक है'— ऐसा कहने का प्रचलन इसी प्रकार से कभी प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु शनैः-शनैः लोग उसकी असली अपेक्षा भूल गये हों और परमात्मा को सचमुच ही एक समझने लगे हों।

5. सभी परमात्मा रागादि सर्व विकारों से पूर्णतः रहित ही होते हैं। 'रागादि सर्व विकारों से पूर्णतः रहित' का अर्थ यहाँ भलीभाँति समझना आवश्यक है। यद्यपि जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उन्हें मात्र 'वीतराग' पद से सम्बोधित किया गया है, किन्तु वहाँ 'वीतराग' का अर्थ मात्र राग-भाव से रहित ही नहीं है। 'रागादि' का अर्थ वहाँ विस्तार करके मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद— इन सभी को समझना चाहिए— ऐसा जैनाचार्यों का स्पष्ट निर्देश है।

कहने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा में उक्त सर्व आत्मिक विकार किंचित् भी नहीं पाए जाते, अथवा परमात्मा इन सर्व आत्मिक विकारों से पूर्णतः रहित होते हैं। वे कभी भी, किसी के भी प्रति, किसी भी कारण से, किंचित् भी राग-द्वेष या काम-क्रोधादि का कोई भी भाव नहीं करते। यहाँ तक कि हास्य-रति आदि लघु विकार भी उनमें बिल्कुल नहीं पाए जाते।

अतः जो लोग इस प्रकार की बातें करते हैं कि भगवान् भक्तों से प्रसन्न होते हैं एवं उनकी रक्षा करते हैं और दुष्टों से रुष्ट होते हैं एवं उनका संहार करते हैं, वे सब परमार्थ से मिथ्या ही सिद्ध होती हैं।

परमात्मा में तो कभी किसी प्रकार की कोई इच्छा मात्र ही उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि इच्छा भी आत्मा का एक विकार ही है।

6. इसी प्रकार परमात्मा वास्तव में कभी भी, किसी का भी, किंचित् भी भला या बुरा नहीं करते; क्योंकि वे पूर्ण वीतरागी होते हैं। यद्यपि व्यवहार से उन्हें भला-बुरा करनेवाला कह दिया जाता है, पर वह उपचार मात्र ही है, परमात्मा कभी किसी का कुछ भी भला-बुरा नहीं करते, क्योंकि यदि

वास्तव में ही वे किसी का कुछ भला-बुरा करें तो वे रागी-द्वेषी ही सिद्ध होंगे।

यहाँ एक प्रश्न प्रायः उठाया जाता है कि जब वे कभी किसी का किंचित् भी भला-बुरा नहीं करते तो फिर हम उनकी पूजा-भक्ति क्यों करते हैं?

उत्तर— जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा की पूजा-भक्ति इसलिए नहीं की जाती है कि वे हमारा भला करेंगे अथवा पूजा न करने पर हमारा कुछ बुरा कर देंगे; अपितु इसलिए की जाती है कि उनके गुणों के चिन्तन से हमारा स्वयमेव भला होता है, हमें भी उनके मार्ग पर चलकर उनके गुणों की प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। यही जैनाचार्यों ने बार-बार कहा भी है। यथा—

“मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभूताम्।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥”¹⁸

अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों को भेदनेवाले हैं और विश्वतत्त्वों के ज्ञाता हैं, मैं उन्हें उनके गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता हूँ।

अथवा—

“न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्तवैरै।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥”¹⁹

अर्थ— हे प्रभो! आप वीतराग हैं, अतः आपको पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है तथा आप वैरभाव से भी पूर्णतः रहित हैं, अतः निन्दा से भी आपको कुछ नहीं होता। किन्तु ऐसी स्थिति होने पर भी हे प्रभो! आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पवित्र करता है— पापों से रहित बनाता है।

इसी प्रकार का भाव अन्यत्र भी अनेकशः प्रकट किया गया है।²⁰

7. परमात्मा इन्द्रिय-ज्ञान से रहित होते हैं, इन्द्रियों से बिल्कुल नहीं जानते हैं, क्योंकि उसमें अनेक आपत्तियाँ आती हैं। यद्यपि निकल परमात्मा

18. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, मंगलाचरण

19. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू-स्तोत्र 12/2

20. “शशि शान्तिकरन तपहरन हेत, स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।”

—पं. दौलतराम कृत देवस्तुति (दौलत-विलास, पृष्ठ 28)

के तो इन्द्रियाँ ही नहीं होती हैं; पर जिन सकल परमात्मा के इन्द्रियाँ होती हैं, वे भी इन्द्रियों से नहीं जानते, अतः उनके भी इन्द्रियज्ञान नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है, पराधीन है, क्रमिक है— सबको एक साथ नहीं जान सकता है, आदि।²¹ परमात्मा का ज्ञान तो अतीन्द्रिय ज्ञान है, जो स्वाधीनतया युगपद् सर्व पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। यही कारण है कि जैन दर्शन के परमात्मा को प्रायः जिनेन्द्र, जितेन्द्र या जितेन्द्रिय आदि नामों से जाना जाता है।

8. परमात्मा नियम से सर्वज्ञ ही होते हैं, अल्पज्ञ नहीं, क्योंकि अल्पज्ञ होने का अर्थ है उनके ज्ञान गुण का पूर्ण विकास न हो पाना। यदि उनका ज्ञान गुण पूर्ण विकसित या शुद्ध हो गया होता तो वह निश्चितरूप से सर्वज्ञ होता। ज्ञान का कार्य जानना है, अतः वह पूर्ण शुद्धि के उपरान्त जगत् के किसी भी ज्ञेय को जानने से रह जाए— ऐसा नहीं हो सकता, वह तो स्वयमेव सर्वज्ञ होगा ही। सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव ही है।²²

परमात्मा के सर्वज्ञत्व को सिद्ध करने हेतु जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में अनेकानेक अकाट्य युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं, सर्वज्ञता-विषयक अनेक स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखे हैं, जिन्हें न्यायदीपिका, परीक्षामुख, आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा आदि जैन न्याय-ग्रन्थों में विशेष रूप से देखा-पढ़ा जा सकता है। यहाँ विस्तार-भय से वह सब नहीं लिखा जा सकता।

परमात्मा के सर्वज्ञ सिद्ध हो जाने से जो लोग ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानकर उसका मुक्तावस्था में अभाव मानते हैं, उनका निराकरण हो जाता है; क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, आगन्तुक नहीं, अतः मुक्तावस्था में उसका अभाव नहीं होता, अपितु पूर्ण विकास हो जाता है और इसलिए परमात्मा नियम से सर्वज्ञ होते हैं।

9. परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के ज्ञाता-द्रष्टा होते हैं— यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वे वीतराग भाव से ही सम्पूर्ण जगत् के मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहते हैं। ज्ञाता-

21. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 21-22

22. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 21 से 52 तक पठनीय है।

द्रष्टा रहने के पीछे भी उनकी किसी प्रकार की किंचित् भी कोई अभिलाषा नहीं रहती, अपितु इसलिए जानते-देखते हैं कि जानना-देखना आत्मा का स्वाभाविक कार्य है, उसके ज्ञान-दर्शन गुणों का निर्मल परिणमन मात्र है। अतः ज्ञाता-द्रष्टा रहते हुए भी वस्तुतः वे तो अपने आत्मानन्द में ही मग्न रहते हैं।²³

10. परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के ज्ञाता-द्रष्टा होते हैं; किन्तु यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वे सम्पूर्ण जगत् के मात्र ज्ञाता-द्रष्टा ही होते हैं, किंचित्मात्र भी कर्ता, धर्ता या हर्ता नहीं होते। यदि उनको कर्ता, धर्ता, हर्ता माना जाए तो वे पूर्ण निराकुल, सुखी एवं कृतकृत्य सिद्ध नहीं हो सकते तथा निश्चय ही रागादि-युक्त भी सिद्ध होते हैं। अतः जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हैं, किंचित् मात्र भी कर्ता, धर्ता, हर्ता नहीं।

जैनाचार्यों ने परमात्मा के सृष्टि-कर्तृत्व के निराकरण हेतु भी अनेकानेक अकाट्य युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिन्हें आचार्य विद्यानन्दि कृत आप्तपरीक्षा, आचार्य जिनसेन कृत महापुराण आदि ग्रन्थों में देखा-पढ़ा जा सकता है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल कृत 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का पंचमाध्याय भी इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है।

11. परमात्मा अनन्त सुखी होते हैं, किन्तु उनका यह सुख भी पूर्ण स्वाधीन एवं आत्मिक ही समझना चाहिए, इन्द्रिय-सुख नहीं; क्योंकि इन्द्रिय-सुख तो आकुलतामय होने से परमार्थतः दुःख ही है। यथा—

“सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।

जं इंदिएहिं लब्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥”²⁴

अर्थ— इन्द्रियों से प्राप्त सुख पराधीन, बाधायुक्त, विच्छिन्न, बन्ध-

23. (क) आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, गाथा 159

(ख) ब्रह्मदेवसूरि, परमात्मप्रकाश-टीका 1/52

(ग) “सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रस लीन।”

—पं. दौलतराम कृत देवस्तुति (दौलत-विलास, पृष्ठ 27)

24. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 76

कारण और विषम है, अतः वास्तव में दुःख ही है।

परमात्मा का सुख तो पूर्ण निराकुलतामय अतीन्द्रिय सुख होता है जिसकी संसार के किसी भी सुख से उपमा नहीं दी जा सकती। यथा—

“अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवमणंतं।

अव्युच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥”²⁵

अर्थ— शुद्धोपयोग से सिद्ध हुए जीवों का सुख अतिशय, अनुपम, अनन्त, अविच्छिन्न और विषयातीत होता है।

12. जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा कभी अनन्तकाल बाद भी, कैसी भी अद्भुत से अद्भुत स्थिति होने पर भी विकाररूप परिणमन नहीं करते, किंचित् भी रागी-द्वेषी नहीं होते और संसार में आकर जन्म-मरणादि भी धारण नहीं करते। यथा—

“काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।

उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः ॥”²⁶

अर्थ— सैकड़ों कल्पकाल व्यतीत हो जाने पर भी सिद्धात्माओं में किसी प्रकार का कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, चाहे तीनों लोकों में खलबली मचा देनेवाला कोई भयंकर उत्पात भी हो जाए।

इस प्रकार यह धारणा भी मिथ्या ही सिद्ध होती है कि परमात्मा अवतार लेते हैं। हाँ, जो आत्मा अपने इस अन्तिम जन्म में परमात्मा बननेवाला है, उसके उस जन्म को यदि इस प्रकार उपचार से कह दिया जाए कि परमात्मा ने अवतार लिया तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु वास्तव में ही परमात्मा को जन्म लेने वाला समझ लेना तो भारी अज्ञानता ही कहा जाएगा।

13. परमात्मा अनन्त शक्ति-सम्पन्न भी होते हैं, किन्तु उसका अभिप्राय भी यह नहीं है कि वे कभी भी, किसी का भी, कुछ भी भला या बुरा कर सकते हैं अथवा वे सारी दुनिया के स्वामी हैं और उनकी इच्छा के बिना कहीं कोई एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। किन्तु उसका अर्थ यह है

25. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 13

26. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार 133

कि वे अपनी अनन्त आत्मिक शक्ति से भरपूर होते हैं। जगत् का कोई भी पदार्थ या जगत् की कैसी भी स्थिति उन्हें कभी भी किंचित् भी विकार रूप परिणमन नहीं करा सकती, उनसे उनकी वीतरागता और सर्वज्ञता नहीं छीन सकती, वे अनन्त काल तक अपने आत्मिक या पूर्ण स्वाधीन सुख का भोग निराबाध रूप से करते रहेंगे, इत्यादि। आत्मा की अनन्त शक्तियों का वर्णन आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयसार' की 'आत्मख्याति' टीका में किया है, जिसे इस सन्दर्भ में अवश्य पढ़ना चाहिए। यहाँ विस्तारभय से हम उनका विशेष वर्णन नहीं कर सकते हैं।

14. परमात्मा को 'सर्वगत' या 'सर्वव्यापक' भी कहा जा सकता है, परन्तु उसका अर्थ मात्र इतना ही है कि वे ज्ञान की अपेक्षा से सर्वगत हैं— जगत् के सभी पदार्थों को जानते हैं; जैसा कि कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने स्पष्ट कहा है। यथा—

“आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ॥

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सब्बगतं ॥”²⁷

अर्थ— आत्मा ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है और ज्ञेय सर्व लोकालोक है, अतः ज्ञान सर्वगत है।

अथवा—

“अप्पा कम्म-विवज्जियउ, केवलणाणें जेण ।

लोयालोउ वि मुणइ जिय, सब्बगु वुच्चइ तेण ॥”²⁸

अर्थ— हे जीव! कर्म-विवर्जित आत्मा केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोकालोक को जानता है, इसलिए उसे 'सर्वगत' कहा जाता है।

किन्तु उन्हें आकार-अपेक्षा से भी सर्वव्यापक मान लेना तो मिथ्या ही है, क्योंकि वे तो लोक के अग्रभाग में ही अपने अन्तिम शरीर के आकार में सदा निवास करते हैं।²⁹

27. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 23

28. मुनिराज योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, दूहा 1/52

29. (क) 'लोयगगणिवसिणो सिद्धा ।'

—आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 68

(ख) 'लोयगगठिदा णिच्चा'— आचार्य नेमिचन्द्र, वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 14

15. जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा निर्गुण-निराकार नहीं होते, क्योंकि उनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनन्त आत्मिक गुण होते हैं³⁰ और वे सदा अपने अन्तिम शरीर के आकार में ही निवास करते हैं।

हाँ, यदि आत्मा के वैभाविक गुणों और पौद्गलिक गुणों की अपेक्षा उन्हें निर्गुण कहा जाए तो ठीक ही है, क्योंकि उनमें आत्मा का कोई भी वैभाविक गुण— राग-द्वेष-क्रोध-मान-मायादि— शेष नहीं रह जाता है और स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण आदि कोई भी पौद्गलिक गुण भी नहीं पाया जाता।

16. परमात्मा में यद्यपि अनन्त स्वाभाविक गुण होते हैं, किन्तु जैनाचार्यों ने उनमें से वीतरागता और सर्वज्ञता— इन दो गुणों को अत्यधिक प्रमुखता प्रदान की है, प्रायः सर्वत्र इन दो गुणों के द्वारा ही परमात्मा का स्मरण-स्तवन-वन्दन आदि किया है। यथा—

“णिस्सेसदोसरहिदो केवलणाणाइपरमविभवजुदो।

सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥”³¹

अर्थ— जो सर्व दोषों से रहित है (अर्थात् वीतराग है) और केवलज्ञानादि परम वैभव से संयुक्त है (अर्थात् सर्वज्ञ है), उसे ही परमात्मा कहते हैं। जो इससे विपरीत है, वह परमात्मा नहीं हो सकता।

प्रतीत होता है कि परमात्मा को जो ‘शुद्ध-बुद्ध’ कहने का व्यवहार प्रचलित है उसके पीछे भी इन्हीं दो प्रमुख गुणों को उजागर करना रहा है, क्योंकि ‘शुद्ध’ शब्द का अभिप्राय ‘वीतराग’ है और ‘बुद्ध’ शब्द का अभिप्राय ‘सर्वज्ञ’ है।

वीतरागता और सर्वज्ञता— इन दो गुणों को विशेष रूप से रेखांकित करने के पीछे जैनाचार्यों का अभिप्राय यह रहा प्रतीत होता है कि इन दो गुणों में परमात्मा के प्रायः सभी प्रमुख गुणों का समाहार हो जाता है और अन्यमताभिमत परमात्मस्वरूप का पूर्ण निराकरण भी स्वयमेव हो जाता है।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने यहाँ तक कह दिया कि जिसमें भी ये

30. “तुम गुणगणमणि गणपति, गणत न पावहि पार।”

—पं. दौलतराम कृत देवस्तुति (दौलत-विलास, पृष्ठ 28)

31. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, गाथा 7

वीतरागता और सर्वज्ञता नामक दो गुण पाये जाते हैं, हम उसे ही परमात्मा स्वीकार करते हैं, चाहे वह कोई भी हो; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, ईसा, मूसा आदि कुछ भी हो, हमें उसके नाम-ग्राम आदि से कोई प्रयोजन नहीं है।³² जैनाचार्यों ने स्वयं ही परमात्मा को हजारों नामों से सम्बोधित किया है, जिनको 'सहस्रनामस्तोत्र' आदि रचनाओं में आसानी से गिना जा सकता

32. (क) देखो मेरी भावना, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ 499

(ख) भूधरदास, जैन शतक, छन्द 46

(ग) श्री मनोहरलाल वर्णी 'सहजानन्द' ने तो अपनी पुस्तक 'धर्म' (पृष्ठ 15-17) में संसार के प्रायः सभी सम्प्रदायों का शब्दार्थ ऐसा ही प्रकट किया है जिसका सार इस प्रकार है—

जैन—मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि शत्रुओं को जीतने वाला जिन है और उन जिन के उपदेश के मानने वाला जैन है। **शैव**— शिव परमसुख या कल्याण को कहते हैं जो आत्मा की ही विशुद्ध अवस्था है। उसकी उपासना करने वाला शैव है। **ईश्वरवादी**— जो अनन्त ज्ञानादि ऐश्वर्य से सम्पन्न हो वही ईश्वर है और उसका उपासक ईश्वरवादी है। **ब्रह्मोपासक**— ब्रह्म अर्थात् आत्मा होता है। आत्मा का उपासक ही ब्रह्मोपासक है। **रामभक्त**— जिसमें योगी भी रमण करे वह आत्मा ही राम है और उस आत्मा का आराधक ही रामभक्त है। **वैष्णव**— विष्णु अर्थात् केवलज्ञान, क्योंकि वही सर्वत्र व्याप्त होता है। अतः केवलज्ञान के उपासक को वैष्णव कहते हैं। **बौद्ध**— बुद्ध अर्थात् शुद्ध ज्ञान और उसका स्वामी; अतः उनका उपासक ही बौद्ध है। **हरिभक्त**— जो पाप को हरे सो हरि है और जो उसका भक्त है वही हरिभक्त है। **हिन्दू**— जो हिंसा (राग-द्वेष) से दूर रहे वही हिन्दू है। **पारसी**— पारस अर्थात् समीपस्थ आत्मा और जो उसका उपासक है वही पारसी है। **सिक्ख**— ज्ञानस्वभावरूप धर्म का शिष्य ही सिक्ख है। **मुसलमान**— मुसले ईमान अर्थात् सत्य ज्ञान पर दृढ़ व्यक्ति ही मुसलमान है। **नैयायिक**— वस्तु के न्यायसंगत या समीचीन स्वरूप को मानने वाला नैयायिक है। **वैशेषिक**— विशेष अर्थात् आत्मा का असाधारण गुण ज्ञान, जो उसका उपासक है वही वैशेषिक है। **मीमांसक**— आत्मस्वभाव के मनन-मन्थन करनेवाले मीमांसक हैं। **योग**— योग अर्थात् समाधि के उपासक। **ईसाई**— ईश अर्थात् स्वामी अर्थात् आत्मा। उसका उपासक ईसाई। **राधावल्लभ**— राधा अर्थात् आत्मा। उसके प्रेमी, रुचिवान को राधावल्लभ कहते हैं। **आर्य**— आत्मारूपी विशुद्ध सारतत्त्व का उपासक आर्य है। **सनातनी**— सनातन अर्थात् अनादि-अनन्त आत्मा और जो उसका उपासक है वही सनातनी है।

है।³³ इतना ही नहीं, उन्होंने वीतरागता और सर्वज्ञता— इन दो गुणों के अनुरूप व्याख्यायित करके अपने परमात्मा को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, सुगत, शिव आदि भी सिद्ध कर दिया है। यथा—

“परमात्मलक्षणं कथ्यते— सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्त लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। परमब्रह्मसंज्ञ- निजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देव- कन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। केवलज्ञानादि- गुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। केवलज्ञानशब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः सुगतः। ‘शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः।’ इति श्लोककथित-लक्षणः शिवः। कामक्रोधादिदोषजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः। इत्यादिपरमागम- कथिताष्टोत्तरसहस्रसंख्यनामवाच्यः परमात्मा ज्ञातव्यः।”³⁴

अर्थात् अब परमात्मा का लक्षण बताते हैं। सकल-विमल केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक को जानने से, उसमें व्याप्त होने से जो विष्णु हैं। परमब्रह्मस्वरूप निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने से तथा उर्वशी, रंभा और तिलोत्तमा आदि देवकन्याओं द्वारा भी ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं होने से जो परमब्रह्म हैं। जो केवलज्ञानादि गुणरूप ऐश्वर्य से युक्त हैं तथा देवेन्द्रादि भी उस पद के इच्छुक होने से उनकी आज्ञा मानते हैं; अतः वही ईश्वर हैं। जो उत्तम ज्ञान (सु+गत) स्वरूप केवलज्ञान के धारक होने से सुगत हैं अथवा जिन्होंने सुन्दर मुक्तिपद को प्राप्त किया है; अतः सुगत हैं। शिव अर्थात् परमकल्याण को प्राप्त करने से जो स्वयं शिव हैं तथा काम- क्रोधादि दोषों पर विजय प्राप्त करने से तथा अनन्त गुण सम्पन्न होने से जो जिन हैं— इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार आठ नामों से वाच्य परमात्मा जानना।

17. परमत-खण्डन की और भी विशेष विवक्षा से जैनाचार्यों ने परमात्मा का एक लक्षण निम्नलिखित भी निरूपित किया है। यथा—

33. देखो जिनसहस्रनाम स्तोत्र, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ 391

34. ब्रह्मदेवसूरि, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 14

“अट्टविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।

अट्टगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥”³⁵

अर्थात् जो अष्टकर्म-रहित, पूर्ण शान्त, निरंजन, नित्य, अष्टगुण-सहित कृतकृत्य और लोकाग्रनिवासी हैं वे सिद्ध हैं।

इस परिभाषा या लक्षण में प्रत्येक पद के द्वारा जैनाचार्यों ने अन्य मतों की मान्यताओं का निराकरण किया है, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही स्पष्ट भी किया है कि—

“सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णइयाइयो य वैसेसी ।

ईसरमंडलिदंसण विदूसणट्ठं कदं एदं ॥”³⁶

अर्थात् सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, ईश्वरवादी और मण्डलीक मतों के निराकरण हेतु सिद्धों के उक्त विशेषण गिनाये गये हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा आत्मा की ही पूर्ण शुद्ध दशा का नाम है और इसलिए उसे शुद्धात्मा, सिद्धात्मा, मुक्तात्मा, परमात्मा आदि कुछ भी कह सकते हैं। सभी शब्द एकार्थवाची हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। इतना ही नहीं, उसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, महेश, महेश्वर, ईश्वर, सुगत आदि हजारों उत्तम नामों से भी पुकारा जा सकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि उसका स्वरूप रागादि सर्व विकारों से रहित पूर्णतः वीतराग एवं सर्वज्ञ ही निरूपित किया जाना चाहिए, उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं आनी चाहिए।

जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा एक नहीं अपितु एक-जैसे होते हैं, अतः उन्हें उपचार से एक कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में संख्यापेक्षा वे अनन्त होते हैं, क्योंकि परमात्मा बनने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में है और वह परमात्मा बन भी सकता है। जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा को जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे राग-द्वेषादि नहीं करते, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहते हैं और अनन्तकाल बाद भी कभी पुनः अशुद्ध नहीं होते— संसार में आकर जन्मादि (अवतारादि) भी धारण नहीं करते। वे तो सदाकाल अपने अतीन्द्रिय आत्मिक सुख को— जो पूर्ण स्वाधीन, निराकुल एवं अव्याबाध है— कृतकृत्य भाव से भोगते रहते हैं।

35. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 68

36. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 69

परमात्मा बनने की प्रक्रिया—

कहा जा चुका है कि जैन दर्शन के अनुसार कोई भी परमात्मा अनादिसिद्ध नहीं है, अपितु पुरुषार्थ द्वारा ही बनता है; अतः यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि परमात्मा बनने की वह प्रक्रिया क्या है?

उत्तर— सभी जीव अनादि काल से मोह-राग-द्वेषादि विकारों से युक्त हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि स्वर्ण-पाषाण अपने जन्मकाल से ही किट्टि-कालिमा सहित होता है।

इन्हीं जीवों में से कोई विरला जीव सर्वप्रथम स्वयं ही किसी प्रकार से अथवा किसी ज्ञानी व्यक्ति से सुनकर यह ठीक से समझता है कि ये मोह-राग-द्वेषादि तो उसके विकार हैं— दोष हैं और इसीलिए ये उसे अत्यन्त दुःखद सिद्ध हो रहे हैं। इसके बाद वह उन विकारों को छोड़ने का समीचीन उपाय भी जानकर उन्हें छोड़ने का ठोस प्रयत्न करता है और शनैः-शनैः उन मोह-राग-द्वेषादि विकारों को छोड़ने भी लगता है। जैसे-जैसे उसके वे विकार छूटते जाते हैं, वैसे-वैसे ही उसके स्वाभाविक ज्ञान-आनन्दादि गुण भी विकसित होते जाते हैं। अन्ततोगत्वा वह आत्मा अपने सर्व विकारों को पूर्णतः छोड़ने में सफल हो जाता है और तब उसके सर्व स्वाभाविक गुण भी स्वयमेव पूर्णतः विकसित हो जाते हैं।

संक्षेप में परमात्मा बनने की यही प्रक्रिया है। शास्त्रीय शब्दावली में इसे ही इस प्रकार भी कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही परमात्मा बनने की सच्ची प्रक्रिया (मोक्षमार्ग) है।³⁷ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष— इन सप्त तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। इन्हीं के समीचीन ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है और फिर अपने रागादि सर्व विकारों को त्यागकर आत्मस्वरूप में ही विचरण करना सम्यक्चारित्र है।³⁸

37. “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।” — आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र 1/1

38. “जीवादीसद्वहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।

रागादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥”

—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 155

परमात्मा बनने की इस प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन प्रायः सभी जैन ग्रन्थों में मिलता है। जिज्ञासु व्यक्ति को वहाँ से जानना चाहिए। यहाँ हम विस्तारभय से नहीं लिख रहे हैं।

प्रश्न— परमात्मा बनने की यह प्रक्रिया क्या कोई भी जीव कभी भी प्रारम्भ कर सकता है?

उत्तर— सभी आत्माएँ समान हैं और स्वयं समर्थ हैं, अतः एक अपेक्षा से देखा जाए तो परमात्मा बनने की यह प्रक्रिया कोई भी जीव कभी भी प्रारम्भ कर सकता है।

किन्तु इसमें एक बात विशेष है। जीव दो प्रकार के कहे गये हैं— भव्य और अभव्य। इनमें से मात्र भव्य जीव ही परमात्मा बनने की यह प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं, अभव्य जीव नहीं, क्योंकि वे कभी भी वैसा पुरुषार्थ नहीं करते। उनकी प्रकृति ही ठोठ मूंग के दाने के समान कही गई है जो लाखों-करोड़ों दानों के बीच कोई एक होता है और कभी भी नहीं सीझता।

प्रश्न— क्या भव्य जीवों में से कोई भी जीव परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकता है, चाहे वह पशु-पक्षी ही हो?

उत्तर— हाँ, जैन दर्शन के अनुसार पशु-पक्षी भी परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं। करते ही हैं। तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर ने भी क्रमशः हाथी और सिंह की पशु-पर्याय में ही परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ की थी। इससे सिद्ध होता है कि पशु-पक्षी भी परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं।

किन्तु यहाँ भी एक विशेष बात है। पशु-पक्षियों में अर्थात् तिर्यच गति में जो जीव अभी मात्र एकेन्द्रियादि ऐसी अवस्थाओं में चल रहे हैं, जिनके मन ही नहीं है— सोचने-समझने की शक्ति ही नहीं है, वे अभी परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं कर सकते, क्योंकि उसके लिए सर्वप्रथम अपने स्वभाव-विभाव का भेदज्ञान करना अनिवार्य है, जो वे नहीं कर सकते। बाद में जब कभी वे समनस्क पंचेन्द्रिय बनेंगे, चाहे तिर्यच ही हों, तब वे भी परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं।

प्रश्न— क्या नरकों में रहनेवाले नारकी जीव भी परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं ?

उत्तर— हाँ, कर सकते हैं। वे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं। अनेक नारकी जीव करते ही हैं। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव— इन चारों ही गतियों के जीव परमात्मा बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं। उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है।

किन्तु यहाँ भी एक विशेष बात यह है कि परमात्मा बनने की प्रक्रिया का प्रारम्भ तो चारों गतियों में से किसी भी गति में किया जा सकता है, किन्तु उसकी पूर्णता मात्र मनुष्य गति में ही सम्भव है, अन्य किसी गति में नहीं। यहाँ तक कि देव गति में भी नहीं। अर्थात् हम ऐसा भी कह सकते हैं कि परमात्मपद की प्राप्ति मात्र मनुष्य को ही होती है, अन्य किसी को नहीं। यही कारण है कि सभी शास्त्रों में मनुष्य गति की महिमा बहुत अधिक गाई गई है।³⁹

39. (क) "रयणं चउप्पहे पिव मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहियं।"

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा 290

अर्थ— जिस प्रकार चौराहे पर पड़ा हुआ रत्न बड़े भाग्य से हाथ लगता है, उसी प्रकार मनुष्यत्व पाना बड़ा दुर्लभ है।

(ख) "यह मानुष परजाय सुकुल सुनिबो जिनवानी।
इहविध गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥"

—पण्डित दौलतराम, छहढाला 4/6

अन्य भारतीय दर्शनों में परमात्मा या ईश्वर

कहा जा चुका है कि जैन दर्शन के अनुसार शुद्धात्मा, सिद्धात्मा या मुक्तात्मा को ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि से सहित होने के कारण परमात्मा या भगवान कहा जाता है। तथा उसे ही ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुगत आदि हजारों नामों से भी सम्बोधित किया जा सकता है।

जैन दर्शन में परमात्मा की उक्त अवधारणा प्राचीनकाल से आज तक एक-सी ही प्रचलित रही है, उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अनेक सम्प्रदाय होने पर भी उनमें परमात्मा-सम्बन्धी उक्त अवधारणा में अन्तर नहीं देखा जाता। किन्तु अन्य भारतीय दर्शनों में परमात्मा के सम्बन्ध में ऐसी कोई स्पष्ट स्थिति नहीं है। वहाँ एक ही दर्शन में अनेकानेक मतभेद सम्प्रदाय-उपसम्प्रदायों की अपेक्षा से भी और कालक्रम की अपेक्षा से भी उपलब्ध होते हैं। तथा कहीं-कहीं उनके आचार्यों में भी पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं।

अतः यहाँ उन सभी का सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन सम्भव नहीं है, अपितु एक सामान्य दृष्टि से ही संक्षिप्त अध्ययन किया जा सकेगा। यदि कहीं कुछ स्वलन हो तो विद्वज्जन क्षमा करें।

सांख्य दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

सांख्य दो प्रकार के कहे गये हैं—निरीश्वर सांख्य और सेश्वर सांख्य। यथा—‘सांख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वरदेवताः।’⁴⁰

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, निरीश्वर सांख्य ईश्वर को नहीं मानता और सेश्वर सांख्य ईश्वर को मानता है। सेश्वर सांख्य का कहना है कि पुरुष

40. हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका 34

एवं प्रकृति के संयोग के लिए ईश्वर को मानना आवश्यक है, क्योंकि पुरुष चेतन होकर भी निष्क्रिय है और प्रकृति सक्रिय होकर भी जड़ है; अतः ईश्वर के सन्निधान से ही ये दोनों संसार की रचना में प्रवृत्त हो सकते हैं। इस प्रकार वे ईश्वर की सत्ता को स्वतः सिद्ध मानते हैं और उसके प्रमाण में महाभारत, गीता और पुराणों से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

जो भी हो, सांख्य दर्शन में प्रतिपादित वस्तु-व्यवस्था के अनुसार जगत् का मूल कारण— आदिकारण तो प्रकृति है, ईश्वर नहीं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसके स्वरूप में सत्त्व, रज और तम— ये तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों की अवस्था भी दो प्रकार की है— साम्यावस्था और वैषम्यावस्था। साम्यावस्था में तो ये गुण अपने स्वरूपस्थ ही रहते हैं⁴¹, किन्तु वैषम्यावस्था में ये तीनों गुण परस्पर विभिन्न अनुपातों में मिश्रित होकर सृष्टि के रूप में परिणमित हो जाते हैं। पुनश्च, इस प्रकृति का आश्रय-द्रव्य पुरुष ही है, अतः इस सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि के मूल हेतु प्रकृति और पुरुष— ये दो ही हैं। अथवा इन दोनों का संयोग ही है, क्योंकि पुरुष तो वस्तुतः सर्वथा नित्य, निष्क्रिय या अपरिणामी है और समस्त कारण-कार्यभाव से परे है। अतः सांख्य दर्शन के अनुसार एक प्रकृति ही सृष्टि का मूल कारण है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सर्वप्रथम मूल प्रकृति से ही महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है और फिर उससे क्रमशः अहंकार की और अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है⁴² और इसी प्रकार इस सृष्टि का संचालन होता रहता है। इसमें ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है।

प्रकृति जड़ होते हुए भी स्वतः प्रवृत्ति कर सकती है, उसे किसी अन्य सहायक तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। यही ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका से भी स्पष्ट होता है—

“वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥”⁴³

41. “सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।” — सांख्यसूत्र 1/61

42. “प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥” — सांख्यकारिका, 22

43. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 57

अर्थात् जिस प्रकार वत्स की वृद्धि के लिए अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति स्वतः होती है, उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिए बिना किसी अन्य की सहायता के ही प्रकृति स्वयं ही अपने व्यापार में प्रवृत्त होती है।

ईश्वरकृष्ण के टीकाकारों द्वारा भी यही मत सिद्ध किया गया है।
यथा—

“गौडपाद ईश्वर को सृष्टि का कारण मानने के मत को अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि ईश्वर तो निर्गुण है, उससे सत्त्वादि गुणों वाली प्रजा (सृष्टि) की सृष्टि कैसे होगी? निर्गुण ईश्वर से सगुण महदादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? त्रिगुणमयी प्रकृति से महदादि की सृष्टि सम्भव है और ईश्वरकारणतावाद का निरास हो जाता है। वाचस्पति मिश्र भी प्रकृति की अचेतन प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं तथा ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का निषेध करते हैं। सांख्यचन्द्रिका में भी वाचस्पति मिश्र के मत को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण तथा उनके टीकाकारों के मत में सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी ही सिद्ध होता है।

वृत्तिकार अनिरुद्ध के अनुसार सांख्य-सूत्रों में ईश्वर का खण्डन किया गया है। उनकी दृष्टि में सांख्यसूत्र ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हुए न्याय दर्शन में यह तर्क दिया गया है कि पर्वत, सागर आदि कार्यों का भी कोई स्रष्टा या निमित्त कारण अवश्य होना चाहिए, वही ईश्वर है। इस तर्क का खण्डन करते हुए अनिरुद्ध कहते हैं कि वह ईश्वर या तो शरीरी होगा या अशरीर, और इन दोनों ही स्थितियों में उसका कर्तव्य असम्भव है, अतः ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण नहीं हो सकता। उनका दूसरा तर्क है— ईश्वर बद्ध है या मुक्त? यदि ईश्वर को बद्ध मानेंगे तो उसे धर्म और अधर्म से सम्बद्ध मानना होगा और तब उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकेगा। यदि वह मुक्त होगा तो उसमें कार्य करने के प्रयत्न का अभाव होगा और उसके कर्तव्य की सिद्धि न हो सकेगी। उसे जीवन्मुक्त भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि जीवन्मुक्त के द्वारा सृष्टि-रचना का कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार अनिरुद्ध का निष्कर्ष यही है कि न्याय दर्शन के अभिमत ईश्वर की सिद्धि नहीं होती।⁴⁴

44. अनुपमा सेठ, योगदर्शन में ईश्वर-प्रणिधान की व्याख्या, पृष्ठ 77-78

इस प्रकार ज्ञात होता है कि सांख्य दर्शन में मूलतः ईश्वर-कर्तृत्व की कोई अवधारणा नहीं थी, किन्तु बाद में किसी प्रयोजन से ईश्वर की मान्यता प्रचलित की गई है। यही कारण है कि उस ईश्वर का स्वरूप अन्य दर्शनों से भिन्न इस दर्शन में क्या माना गया है— यह स्पष्ट नहीं मिलता। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो यह भी कहा गया है कि जब इस आत्मा को प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान हो जाए तब यही आत्मा सम्यग्ज्ञानी होकर शनैः-शनैः विराग और ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है।⁴⁵

इस प्रकार सांख्यदर्शन और जैन दर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी अवधारणा में यह साम्य सिद्ध होता है कि दोनों ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते और सम्यग्ज्ञान द्वारा मुक्ति को प्राप्त आत्मा को ही ऐश्वर्यशाली होने से 'ईश्वर' कहते हैं।

योग दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

सांख्य और योग— दोनों ही दर्शनों में तत्त्वव्यवस्था की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, किन्तु जो एक विशेष अन्तर है, वह ईश्वर की अवधारणा से ही सम्बन्धित है। सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी माना जाता है और योग दर्शन ईश्वरवादी। अतः स्पष्ट है कि योग दर्शन में ईश्वर का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योग दर्शन के अनुसार ईश्वर का लक्षण इस प्रकार है—

“क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।”⁴⁶

अर्थात् जो पुरुष-विशेष सर्व क्लेशों, कर्म-विपाकों और आशयों से रहित है, वह ईश्वर है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ईश्वर या भगवान् की यह परिभाषा प्रायः सर्वसम्मत है। जो भी दर्शन परमात्मा या ईश्वर को मानते हैं, वे सभी उसे शब्दों से तो ऐसा ही कहते हैं। किन्तु इसके स्पष्टीकरण में आगे बढ़ने पर मतभेद सामने आते हैं।

योगसूत्र में ईश्वर से सम्बन्धित तीन सूत्र और भी मिलते हैं—

45. सांख्यतत्त्वकौमुदी 67-68

46. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र 1/24

1. “ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।”⁴⁷
2. “तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।”⁴⁸
3. “समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।”⁴⁹

अर्थात्—

1. ईश्वर-प्रणिधान से ही योग की सिद्धि होती है।
2. तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का नाम क्रियायोग है।
3. ईश्वर-प्रणिधान से ही समाधि की सिद्धि होती है।

ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ईश्वर में प्रविष्ट होना, विलीन होना अथवा अपने आपको पूरी तरह ईश्वर को ही समर्पित कर देना बताया गया है। इससे स्पष्ट हुआ कि योग दर्शन के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान से ही योग और समाधि की सिद्धि होती है।

उक्त सूत्रों की टीका भोजवृत्ति में कहा गया है कि ईश्वर प्रसन्न होकर समस्त क्लेशों और अन्तरायों को दूर करके समाधि का सही बोध प्रदान करता है। यथा—

“स भगवान् ईश्वरः प्रसन्न सन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं सम्बोधयति ।”⁵⁰

इससे स्पष्ट होता है कि योग दर्शन के अनुसार ईश्वर है और वह सर्व क्लेशों एवं कर्मों से पूर्णतः मुक्त पुरुष-विशेष है। वह सबका गुरु है— ‘स पूर्वेषामपि गुरुः’ और प्रसन्न होकर योगियों को समाधि का यथार्थ ज्ञान भी प्रदान करता है। उसका वाचक प्रणव है— ‘तस्य वाचकः प्रणवः’।

न्याय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

सर्व भारतीय दर्शनों में ईश्वर की मान्यता को पुष्ट करनेवाला

47. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र, 1/23
48. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र, 2/1
49. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र, 2/45
50. योगसूत्र, भोजवृत्ति, 2/45

सर्वप्रमुख दर्शन न्याय दर्शन ही है। न्याय दर्शन में ईश्वर को स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। न केवल स्वीकार किया गया है, उसकी सिद्धि हेतु अनेक तर्क भी दिये गये हैं, जिन्हें संक्षेप में उदयनाचार्य ने अपनी 'न्यायकुसुमांजलि' में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतैः।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्ववदव्ययः ॥”⁵¹

इसका अभिप्राय यह है कि निम्नलिखित आठ हेतुओं से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। यथा—

1. कार्यात्— यह जगत् एक कार्य है, अतः इसका कोई-न-कोई बुद्धिमान कारण अवश्य होना चाहिए और वह ईश्वर ही हो सकता है।

2. आयोजनात्— जगत् के सभी पदार्थ अनेक परमाणुओं के संयोग से बने हुए हैं, उनके अनेकानेक अवयव भी हैं, अतः उन सबका कोई-न-कोई संयोजक अवश्य होना चाहिए और वह ईश्वर ही है।

3. धृत्यादेः— यह सम्पूर्ण जगत् विविध आश्चर्यजनक नियमों पर स्थिरतापूर्वक आधारित है और संचालित है, जो किसी ईश्वर के बिना सम्भव नहीं है।

4. पदात्— इस जगत् में अनेक पद अर्थात् विद्याएँ या कला-कौशल विद्यमान हैं जो अतिदीर्घकाल से गुरु-शिष्य-परम्परा से चले आ रहे हैं। उनकी उत्पत्ति का मूल कारण कोई-न-कोई महाज्ञानी पुरुष अवश्य होना चाहिए। वह ईश्वर ही है।

5. प्रत्ययतः— विज्ञानों की अभ्रान्तता— विश्वसनीयता देखकर ही यह सिद्ध हो जाता है कि इनका स्रष्टा असीम ज्ञान का भण्डार कोई ईश्वर ही होना चाहिए।

6. श्रुतेः— श्रुतिग्रन्थों— शास्त्रों से भी ईश्वर की सिद्धि होती है, क्योंकि उनमें ईश्वर का वर्णन पाया जाता है।

7. वाक्यात्— वाक्य (वेदवाक्य या भाषामात्र) का रचयिता इस दुनिया में ईश्वर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है?

51. उदयनाचार्य, न्यायकुसुमांजलि 5/1

8. संख्याविशेषात्— एक, दो, तीन आदि संख्याओं का ज्ञान सर्वप्रथम कैसे हुआ होगा— यदि यह विचार किया जाए तो भी ईश्वर की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार सभी नैयायिक आचार्यों के अनुसार अनेक तर्कों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है, उसे नकारा नहीं जा सकता। तथा उनके अनुसार ईश्वर ही इस जगत् का वास्तविक निमित्त कारण है। वही सर्व प्राणियों का पिता है और उनके समस्त कर्मों का भी निमित्त कारण या प्रायोजक है। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कर्ता भी ईश्वर ही है। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व के समर्थन में नैयायिक आचार्यों ने अनेकानेक युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं।⁵²

इस प्रकार सभी नैयायिक आचार्य ईश्वर की सत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं और उसे सृष्टिकर्ता मानकर उसकी नाना प्रकार से महिमा भी गाते हैं, किन्तु फिर भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में वे सब एकमत नहीं दिखाई देते। यथा—

“सभी नैयायिक ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं। कुछ उसको किसी प्रकार का अदृष्ट न होने के कारण अशरीरी मानते हैं। एक दूसरे मत के अनुसार परमाणु ही ईश्वर का शरीर है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न— ईश्वर के ये आठ गुण हैं। उसमें धर्म-अधर्म नहीं है। उसमें दुःख भी नहीं है, किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद है कि उसमें आनन्द है या नहीं।”⁵³

न्याय दर्शन में अभिमत ईश्वर के स्वरूप की जैन-ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक समीक्षा की गयी है, जिनमें आचार्य विद्यानन्दि कृत आप्तपरीक्षा विशेष उल्लेखनीय है।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

वैसे तो न्याय और वैशेषिक— ये दोनों दर्शन समानतन्त्र कहलाते हैं, क्योंकि इन दोनों की विचारधारा प्रायः एक-सी ही है; किन्तु ईश्वर के

52. “ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।”—न्यायसूत्र 4/1/19

53. प्रदीपकुमार जैन, जैन अर्हत्, पृष्ठ 75

सम्बन्ध में इन दोनों की अवधारणा एक-सी प्रतीत नहीं होती। जहाँ एक ओर न्याय दर्शन में ईश्वर को स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है, न केवल स्वीकार किया गया है, उसकी सत्ता को अनेक तर्कों से सिद्ध भी किया गया है और साथ ही उसे इस जगत् का पूर्ण नियन्ता भी निरूपित किया गया है; वहीं दूसरी ओर वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता को लेकर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है, क्योंकि वहाँ उसकी कोई स्पष्ट अवधारणा प्रारम्भ से नहीं मिलती है। वैशेषिक सूत्र में मात्र दो सूत्र ऐसे मिलते हैं जिनसे ईश्वरवादियों ने ईश्वर की सत्ता का अनुमान लगाया है। वे सूत्र मूलतः इस प्रकार हैं—

1. “तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।”⁵⁴

2. “संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्।”⁵⁵

इनमें से प्रथम सूत्र में आगत ‘तत्’ और दूसरे सूत्र में आगत ‘अस्मद्विशिष्ट’ पदों से ईश्वरवादियों ने ‘ईश्वर’ अर्थ निकाला है; किन्तु दूसरे विद्वान् कहते हैं कि ये दोनों पद तो योगियों के बोधक भी हो सकते हैं, इनसे ‘ईश्वर’ का ही बोध होता है— ऐसा बात नहीं है।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की अवधारणा को लेकर जो मतभेद दिखाई देता है, उसी के कारण अनेक समीक्षक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वैशेषिक दर्शन में भी मूलतः ईश्वर को नहीं स्वीकार किया गया है, खासकर सृष्टिकर्ता के रूप में तो कतई नहीं। यथा—

“चार्वाक, बौद्ध, महावीर, कपिल और मीमांसकों की भाँति कणाद ने भी ईश्वर को नकार कर परमाणुओं की गति से सृष्टि का निर्माण स्वीकार करते हुए जगत् की वास्तविकता को अंगीकार किया था। परन्तु कालान्तर में वैशेषिक दर्शन ने भी ईश्वर की सत्ता को अंगीकार कर लिया।”⁵⁶

अथवा— “उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को विश्व का स्रष्टा नहीं माना गया है।”⁵⁷

जो भी हो, वर्तमान में वैशेषिक दर्शन को भी न्याय दर्शन के साथ

54. वैशेषिक सूत्र 1/1/3

55. वैशेषिक सूत्र 2/1/18

56. प्रदीपकुमार जैन, जैन अहंत्, पृष्ठ 76

57. अनुपमा सेठ, योगदर्शन में ईश्वर-प्रणिधान की व्याख्या, पृष्ठ 82

ईश्वरवादी दर्शन ही माना जाता है, क्योंकि उसके प्रशस्तपाद आदि सभी परवर्ती आचार्यों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है और उसे 'सकल-भुवनपति' और 'सर्वलोक-पितामह' भी स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, न्याय दर्शन की भाँति उसे सृष्टि का रचयिता भी मान लिया है। यथा—

“उत्तरकालीन वैशेषिकों ने तथा नैयायिकों ने ईश्वर की सत्ता मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है एवं उसकी सिद्धि के लिए तर्क भी दिये हैं। वे ईश्वर को कर्ता, धर्ता, हर्ता और नियन्ता बताते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ हैं, नित्यज्ञानाधिकरण हैं। उनमें ऐश्वर्यादि गुण हैं। वे भक्तों पर कृपा करके तत्त्वज्ञान-प्राप्ति में उनकी सहायता करते हैं। सृष्टि और प्रलय उनकी इच्छा से होते हैं।”⁵⁸

मीमांसा दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

मीमांसा दर्शन यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को बहुत अधिक महत्त्व देता है। इसके प्रवर्तक महर्षि जैमिनि के अनुसार यज्ञानुष्ठान से ही कर्मफल की प्राप्ति होती है, किसी अन्य अधिष्ठाता या ईश्वर के कारण नहीं, अतः स्वर्गाभिलाषी को उत्तम यज्ञ करना चाहिए— ‘यजेत् स्वर्गकामः’ इत्यादि।

इससे प्रतीत होता है कि मीमांसा दर्शन में भी मूल में ईश्वर और उसके सृष्टि-कर्तृत्व की कोई मान्यता नहीं थी, मात्र अपने कर्मों को ही सुधारने का उपदेश था।

किन्तु बाद के मीमांसक आचार्यों ने ऐसी व्याख्या करके कि यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है— यह तो ठीक है, किन्तु वह प्राप्ति कराता कौन है, अतः ईश्वर अवश्य है, और ईश्वर की सिद्धि कर ली। उन्होंने ईश्वर को ‘यज्ञपति’ के रूप में स्वीकार किया और कहा कि अपने समस्त कर्मों का फल हमें ईश्वर को ही समर्पित कर देना चाहिए, वही कर्मफल-प्रदाता है। यथा—

“ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः।”⁵⁹

58. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 196

59. अर्थसंग्रह, पृष्ठ 116

अर्थात् ईश्वर को अर्पित किया हुआ कार्य ही निःश्रेयस का हेतु है।

इस प्रकार परवर्ती मीमांसक आचार्यों ने कर्मफल-प्रदाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लिया है। यद्यपि उन्होंने भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में तो नहीं ही स्वीकार किया और कहा है कि यह संसार अनादि-अनन्त है, इसे उत्पन्न और नष्ट करनेवाला कोई नहीं है।

मीमांसकों में कुमारिल भट्ट आदि कुछ आचार्य तो ईश्वर के प्रति तटस्थ भी नहीं रहे, अपितु उन्होंने प्रखर तर्कों द्वारा ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व का निराकरण भी अपने ग्रन्थों में किया। उदाहरणार्थ स्वयं कुमारिल भट्ट ने ही अपने 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' में ईश्वर-सृष्टिकर्तृत्व के निराकरणार्थ कुछ तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

1. सृष्टिकर्ता ईश्वर शरीरी है या अशरीरी? यदि शरीरी है तो वह शरीरी होने से कदापि नित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि शरीर यौगिक रचना है। तथा तब तो उसकी स्वयं की रचना के लिए भी किसी अन्य सृष्टिकर्ता की आवश्यकता माननी होगी, जिससे अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

तथा यदि ईश्वर अशरीरी है तो बिना शरीर के कोई वासना और किसी भी प्रकार का कृतिभाव ही उत्पन्न नहीं हो सकता।

2. पुनश्च, ईश्वर किस कमी को पूरा करने के लिए सृष्टि-रचना करेगा? यदि कोई कमी है तो उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। यदि लीला से कहोगे तो लीला भी उसकी अपूर्णता को ही बताएगी।

3. यदि कहो कि करुणा से द्रवित होकर सृष्टि की तो सृष्टि से पूर्व तो यहाँ कोई जीव था ही नहीं, किन्तु प्रति करुणा की?

4. यदि भविष्यज्ञ बनकर करुणा की तो फिर उसने सब कुछ शुभ ही क्यों नहीं बनाया? अशुभ भी क्यों बनाया?

इस प्रकार कुमारिल भट्ट तो ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व का पुरजोर खण्डन भी करते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मीमांसा दर्शन में भी सृष्टिकर्ता या जगन्नियन्ता ईश्वर को कोई स्थान नहीं है।

वेदान्त दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

वेदान्त दर्शन के अनेक उपसम्प्रदाय हैं, जिनका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं। सभी में ईश्वर के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद पाए जाते हैं, जिनकी सूक्ष्म चर्चा हेतु यहाँ अवकाश नहीं है, तथापि उनकी सामान्य अवधारणा इस विषय में कुछ इस प्रकार है—

वेदान्त दर्शन में ईश्वर को ब्रह्म के नाम से स्वीकार किया गया है। तथा न केवल स्वीकार किया गया है, एक अपेक्षा से तो उसे ही एकमात्र सत् स्वीकार किया गया है—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म⁶⁰ नेह नानास्ति कश्चन।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन॥

इस प्रकार अद्वैतवेदान्तदर्शन में ईश्वर को 'ब्रह्म' संज्ञा से विभूषित किया गया है और उसे ही इस सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र सत् माना गया है। उनके अनुसार शेष सम्पूर्ण जगत् एवं उसके पदार्थ माया हैं अथवा एक 'ब्रह्म' के ही विस्तार मात्र हैं। वास्तव में तो एक ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है—“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।”

यही कारण है कि वेदान्त दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का उपादान और निमित्त— दोनों ही प्रकार का कारण माना गया है। न्याय दर्शन में तो ईश्वर को सृष्टि का मात्र निमित्त कारण माना गया है, किन्तु वेदान्त दर्शन तो और भी आगे बढ़ गया, उसने तो ईश्वर को जगत् का उपादान कारण भी स्वीकार कर लिया है। ठीक भी है, ऐसा किये बिना उसके अद्वैत तत्त्व की सिद्धि कैसे हो सकती थी?

वेदान्त दर्शन के अनुसार इस एक ही ब्रह्म के दो रूप होते हैं— 1. निर्गुण ब्रह्म और 2. सगुण ब्रह्म। निर्गुण ब्रह्म ब्रह्म की स्वाभाविक अवस्था है और सगुण ब्रह्म माया से आच्छादित होने पर दिखाई देता है। निर्गुण ब्रह्म तो ब्रह्म ही है, पर सगुण ब्रह्म को 'ईश्वर' भी कहा जाता है। इस ईश्वर के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में उपलब्ध होता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म स्वभावतः निर्गुण, निराकार और अद्वैत

60. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/2

है, किन्तु माया की उपाधि के कारण उसमें सगुणत्व, साकारत्व और नानात्व आरोपित किया जाता है। जिस प्रकार प्रकाश का अपना कोई निश्चित आकार नहीं होता, अपितु अधिकरणों के अनुसार वह नाना आकार धारण कर लेता है; उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म ही निराकार और अद्वैत होते हुए भी साकार और नाना रूप में प्रतीत होता है।⁶¹

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप को 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'⁶² 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'⁶³ इत्यादि सूत्र-वाक्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

बौद्ध दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध ईश्वर-सम्बन्धी विषय को अव्याकृत कोटि में रखते थे और इसीलिए उनसे जब भी इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न पूछा जाता तो वे इसे अनावश्यक या अप्रयोजनभूत कहकर मौन धारण कर लेते थे, अतः मूल रूप में यह स्पष्ट करना असम्भव है कि ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी मान्यता क्या थी; किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में यत्र-तत्र ईश्वरवाद का स्पष्ट निराकरण प्राप्त होता है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी है और ईश्वर-कर्तृत्व के लिए तो उसमें बिल्कुल ही गुंजाइश नहीं है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी यही लिखा है—

“बुद्ध प्रथम कोटि के अनीश्वरवादी थे। उनके मत में ईश्वर की सत्ता मानने के लिए हमारे पास कोई भी उपयुक्त तर्क नहीं है। अपने उपदेशों में उन्होंने अपनी अनीश्वरवादी भावना को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है जिसे पढ़कर प्रतीत होता है कि वे अनजाने और अनसुने ईश्वर के भरोसे अपने अनुयायियों को छोड़कर उन्हें अकर्मण्य और अनात्मविश्वासी बनाना नहीं चाहते थे। पाथिकसुत्त (दीघनिकाय 3/1) में बुद्ध ने ईश्वर के कर्तृत्व का बड़ा उपहास किया है।”⁶⁴

61. ब्रह्मसूत्र 3/2/15 का शांकर भाष्य

62. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/1/1

63. ब्रह्मोपनिषद् 3/9/28

64. आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृष्ठ 76

पाथिक सुत्त की भाँति केवट्ट सुत्त और तेविज्ज सुत्त (दीघनिकाय) में भी ईश्वर और उसके सृष्टिकर्तृत्व का निराकरण उपलब्ध होता है।

इसके अतिरिक्त अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में तो साफ-साफ ही गौतम बुद्ध के मुख से इस प्रकार कहलाया गया है—

“यदि ईश्वर इस विश्व का रचयिता होता तो सभी वस्तुएँ उससे उत्पन्न होकर नाशवान् क्यों होतीं, क्यों दुःख और विनाश होता, क्यों कोई भी कार्य अनुचित होते?

यदि चेतन प्राणियों में दुःख-हर्ष-प्रेम-घृणा आदि ईश्वर-रचित होते, तो इन भावों का रचयिता भी दुःख-हर्ष-प्रेम-घृणा आदि से आक्रान्त होता और इन भावों से आक्रान्त आत्मा किस प्रकार पूर्ण कही जा सकती है?

यदि ईश्वर सृष्टिकर्ता हो और यदि सभी घटनाएँ ईश्वर से ही संचालित हों तो पुण्य करने से क्या लाभ हो सकता है? यदि शुभ और अशुभ दोनों ईश्वर ने ही उत्पन्न किये हैं, तो ईश्वर के लेखे में दोनों एक बराबर माने जायेंगे।

परन्तु, यदि अशुभ के कर्ता (ईश्वर को छोड़कर) अन्य कारण हों, तो इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर के बिना भी कुछ घटनाएँ अन्य कारणों से उत्पन्न हो सकती हैं। तो क्यों नहीं सभी घटनाएँ अन्य कारणों से अथवा अकारण मानी जाएँ?

फिर यदि इस विश्व का रचयिता ईश्वर हो, तो उसने इसकी रचना या तो किसी उद्देश्य से की होगी, या निरुद्देश्य रूप में की होगी। यदि किसी उद्देश्यपूर्ति के लिए ईश्वर ने विश्व की रचना की है, तो ईश्वर पूर्ण नहीं कहा जा सकता; और यदि उसने निरुद्देश्य भाव से सृष्टि की है, तो यह रचना बच्चों का निरुद्देश्यपूर्ण खेल है।⁶⁵

इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में ईश्वर और उसके सृष्टिकर्तृत्व का पूर्णतः निराकरण किया गया है। वर्तमान में बौद्धमतानुयायी महात्मा गौतम बुद्ध को ही भगवान के रूप में मानते हैं।

65. डॉ. याकूब मसीह, निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य, पृष्ठ 96-97

चार्वाक दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

चार्वाक दर्शन ईश्वरवादी दर्शनों से सर्वथा विपरीत है। वह ईश्वर को बिल्कुल नहीं मानता। उसका साफ-साफ कहना है कि ईश्वर नाम की किसी चीज का लोक में कोई अस्तित्व ही नहीं, क्योंकि यदि होता तो वह प्रत्यक्ष दिखाई देता; किन्तु वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, इससे ही सिद्ध होता है कि उसका अस्तित्व नहीं है।

चार्वाक दर्शन प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी है, अतः उसका मानना है कि यदि ईश्वर होता तो अवश्य ही वह हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता। तथा जब ईश्वर है ही नहीं तो उसके सृष्टिकर्तृत्व की बात करना वन्ध्या-पुत्र के सौन्दर्य-वर्णन के समान है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार यदि ईश्वर मानना ही है तो जो इस लोक में राजा है, उसे ही ईश्वर मान लेना चाहिए, क्योंकि वही सभी का स्वामी है और सुख-दुःख का दाता भी है।⁶⁶

66. 'लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः।' —सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 8

ईश्वर-कर्तृत्व का निराकरण (जैन एवं हिन्दू धर्म के विशेष परिप्रेक्ष्य में)

भारतीय संस्कृति में ईश्वर को हजारों नामों से जाना जाता है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो उन सभी नामों में पर्याप्त अर्थभेद भी है, उन सभी को सर्वथा एकार्थवाची या पर्यायवाची मानना ठीक नहीं है। इतना ही नहीं, उनमें कुछ नाम-विशेष तो ऐसे भी हैं, जिनसे एक विशिष्ट सम्प्रदाय का ही बोध होता है, क्योंकि उस नाम-विशेष को वह सम्प्रदाय-विशेष ही स्वीकार करता है, दूसरा सम्प्रदाय उसे नहीं मानता। उदाहरणार्थ— 'बुद्ध' नाम बौद्ध धर्म के अनुयायियों का ही विशेष शब्द है, उसे सिक्ख या ईसाई नहीं स्वीकार करते। यद्यपि यह भी सत्य है कि विद्वानों ने भगवान के सभी हजारों नामों की व्युत्पत्ति अपने-अपने अनुसार की है और उन सभी को अपने ही आराध्य भगवान पर घटित करने का भी प्रयत्न किया है। जैसा कि आचार्य मानतुंग कृत 'भक्तामर-स्तोत्र' का निम्नलिखित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

“बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात् त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धाताऽसि धीरशिवमार्गविधेर्विधानाद् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥”⁶⁷

अथवा 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' गाथा 14 की ब्रह्मदेवसूरि कृत टीका में परमात्मावाची कुछ नामों की व्याख्या को भी देखा जा सकता है, जिसे हम पूर्व में (पृष्ठ संख्या 169-170 पर) उद्धृत कर चुके हैं।

उसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर ईश्वर या परमात्मा के विविध नामों की ऐसी ही व्याख्या मिलती है।

यहाँ 'ईश्वर' या 'महेश्वर' शब्द नैयायिक एवं वैशेषिकों का ही अपना विशिष्ट शब्द है और उसकी जो अवधारणा उन दर्शनों में पाई जाती है,

67. आचार्य मानतुंग, भक्तामर स्तोत्र, 25

वैसी संसार के अन्य किसी दर्शन में नहीं पाई जाती। तथापि यहाँ हमने 'ईश्वर' शब्द को सामान्यतः भगवान् या परमात्मा के बहुप्रचलित अर्थ में ही ग्रहण करके जैन एवं हिन्दू धर्म के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर-कर्तृत्व की अवधारणा पर चर्चा की है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'हिन्दू धर्म' नाम का कोई एक विशिष्ट धर्म या दर्शन ऐसा नहीं मिलता, जिसकी सर्वमान्य या निर्विवाद अवधारणाएँ उपलब्ध होती हों, अपितु इसमें इतने अधिक विचार-भेद उपलब्ध होते हैं कि उन्हें कथमपि एक नहीं माना जा सकता। कोई निरीश्वर है तो कोई सेश्वर।⁶⁸ सेश्वर में भी कोई सगुण साकार-मार्गी है और कोई उससे एकदम विपरीत निर्गुण निराकार-मार्गी है। कोई रामादि अवतारों को मानता है और कोई बिल्कुल नहीं मानता। इस प्रकार एक ही हिन्दू धर्म में सैकड़ों सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय उत्पन्न हो गए हैं और सभी अपने को 'हिन्दू' ही कहते हैं। वे सभी परस्पर मतभेद भी बहुत अधिक रखते हैं। इतना अधिक कि कभी-कभी कोई तो अपने को 'हिन्दू' कहने से बचते तक हैं, मात्र अपने विशिष्ट सम्प्रदाय का ही स्वयं को अनुयायी कहते हैं। सम्भवतः इतने अधिक विचारभेदों को देख कर ही महाभारतकार को ऐसा कहना पड़ा था—

“मतयो विभिन्नाः श्रुतयो विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।”

इन सबके बावजूद, हिन्दू धर्म के अनेक विद्वान अनुयायियों ने उदारता और समन्वय की बातें कर-करके सभी सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों को एक करने की बहुत कोशिश की है। उदाहरणार्थ— गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में सगुण और निर्गुण, शैव और वैष्णव, ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गियों आदि के समन्वय की कुशल चेष्टा प्रदर्शित की है। यथा—

“सगुनहि निगुनहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहि भवसम्भव खेदा।”⁶⁹

“सिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहि सपनेहु नहिं भावा।”⁷⁰

68. “सांख्याः निरीश्वराः केचिद् केचिदीश्वरवादिनः।” — षड्दर्शनसमुच्चय 34

69. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 115

70. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, 2

इसी प्रकार वीर सावरकर, स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक आधुनिक विचारकों ने भी अनेक सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों के विचार-भेदों का समन्वय कर हिन्दू धर्म को विशाल एवं व्यापक बनाने की भरसक कोशिश की है।⁷¹

जो भी हो, हम यहाँ हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायों में पाये जानेवाले सूक्ष्म मतभेदों को गौण करते हुए उनकी एक बहुप्रचलित अवधारणा के आधार पर ही अपनी बात कहने का प्रयास करेंगे।

हिन्दू धर्म को बहुत अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से अथवा अज्ञानतावश कुछ लोग जैन धर्म को भी हिन्दू धर्म का ही एक हिस्सा मानते हैं; परन्तु अनेक प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा नहीं है, अपितु एक स्वतन्त्र धर्म है। यहाँ उन सभी प्रमाणों को प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं है, तथापि कतिपय उद्धरण मात्र पाद-टिप्पणी में प्रस्तुत कर रहे हैं।⁷²

71. 'आ सिन्धोः सिन्धुपर्यन्ताः यस्य भारतभूमिका।

पितृभूः पुण्यभूश्चैव, स वै हिन्दूरिति स्मृतः ॥'

अर्थात् वे सभी लोग हिन्दू हैं, जो सिन्धु नदी से लेकर असमुद्र विस्तृत भूभाग में बसते हैं एवं जो भारत को अपनी पितृभूमि तथा तीर्थ मानते हैं।

—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 112

72. (क) 'जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है और इसलिए भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान और धर्मपद्धति के अध्ययन करनेवालों के लिए वह बड़े महत्त्व की वस्तु है।'

—डॉ. हरमन जैकोबी,

सर्वोदयी जैन धर्म और उसकी मौलिकता पर लोकमत, पृष्ठ 13

(ख) 'जैन विचार अत्यन्त प्राचीन हैं। आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान ने जैन धर्म के हिन्दू या बौद्ध धर्म की शाखा होने की कल्पना का मूलोच्छेद किया है।'

—लोकमान्य तिलक, 'केसरी', 13 दिसम्बर 1904

सर्वोदयी जैन धर्म और उसकी मौलिकता पर लोकमत, पृष्ठ 13

(ग) 'जैनधर्म में मनुष्य की उन्नति के लिए सदाचार को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। जैनधर्म बहुत मौलिक, स्वतन्त्र तथा सुव्यवस्थित है और ब्राह्मणीय प्रथा से भिन्न है।'

—डॉ. ए. गिरनाट

सर्वोदयी जैनधर्म और उसकी मौलिकता पर लोकमत, पृष्ठ 13

हिन्दू धर्म और जैन धर्म को प्राचीन काल में क्रमशः वैदिक धर्म (या ब्राह्मण धर्म) और श्रमण धर्म कहा जाता था। चीनी यात्री मेगस्थनीज ने भी लिखा है कि उसके समय में यहाँ भारत में दो ही धर्म प्रचलित थे— ब्राह्मण धर्म और श्रमण धर्म। जैसा कि डॉ. स्वानबक 'टा इंडिका' में लिखते हैं—

(घ) 'बौद्ध धर्म और जैन धर्म यथार्थ में हिन्दू धर्म नहीं हैं और न वे वैदिक धर्म ही हैं। यद्यपि इनकी उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई है और वे भारतीय जीवन, संस्कृति और दर्शन के मुख्य अंग हैं। भारत में जो कोई बौद्ध अथवा जैन हो, वह भारतीय तत्त्वज्ञान और संस्कृति की शत-प्रतिशत कृति है, किन्तु धर्म की दृष्टि से उनमें से कोई भी हिन्दू नहीं है।'

—पं. जवाहरलाल नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी, पृष्ठ 97

(ङ) 'यह सोचना व्यर्थ है कि जैन समुदाय के लोगों को हिन्दू माना जाए। यह सत्य है कि हिन्दुओं का बहुत-कुछ जैन लोगों में भी प्रतिबिम्बित है। जैन समुदाय और हिन्दू धर्म के अनेक रीति-रिवाज मिले-जुले हैं, लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि जैन समुदाय के लोग पृथक् धार्मिक समुदाय से सम्बद्ध हैं, अतएव संविधान इस सुव्यवस्थित मान्यता-प्राप्त स्थिति को कतई प्रभावित नहीं करता।'

—पं. जवाहरलाल नेहरू

(प्राकृतविद्या, जनवरी-जून 2003, पृष्ठ 88)

(च) 'जैन धर्म वैधानिक रूप से अलग ही स्रोत से उत्पन्न हुआ। अनेक लोगों के मतानुसार यह उससे भी प्राचीन धर्म है, जो हिन्दू धर्म के नाम से जाना जाता है।'

—श्री श्रीप्रकाश, जैनज्म इन बिहार, पृष्ठ 1

(छ) 'विशेषतः प्राचीन भारत में किसी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म का प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी। जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है, उनकी शाखा या रूपान्तर नहीं।'

—प्रो. मैक्समूलर, जैनधर्म विश्वधर्म (नाथूराम डोंगरीय), पृष्ठ 84

(ज) विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी 'राष्ट्रगीत' में जैनों का पृथक् उल्लेख किया है, हालाँकि वर्तमान प्रचलित अंश में यह अन्तरा शामिल नहीं है। यथा—
'अहरह तव आह्वान प्रचारित, शुचि तव उदार वाणी,
हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन, पारसिक, मुसलमान, ख्रिस्तानी,
पूरब पश्चिम आशे, तब सिंहासन पाशे, प्रेमहार हय गाथा,
जन गण ऐक्य विधायक जय हे, भारत भाग्य विधाता,
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे।'

“ ‘इन भारतीयों के दो सम्प्रदायों में एक ‘सरमनाई’ (SARMANAI) कहलाता है और दूसरा ‘ब्राचमनाई’ (BRACHMANAI)। इनमें ‘सरमनाई’ श्रमण (जैन) तथा ब्राचमनाई ब्राह्मण है।’

चीनी यात्री ह्वेनसांग भी जब भारत आया था तो यहाँ उसने जैन समुदाय एवं जैन श्रमणों को देखा था तथा वह उनसे बहुत प्रभावित भी हुआ था, उसने अपने यात्रा-वृत्तान्त में उन्हें श्रमणोरा (SARMANERAS) कहा है।⁷³

इससे भी यह सिद्ध होता है कि भारत में प्राचीन काल से ही नदी के दो तटों की भाँति वैदिक और श्रमण— ये दो धर्म परस्पर अनुकूल-प्रतिकूल भाव से रहते आए हैं।⁷⁴ यही कारण है कि आज असंख्य वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी दोनों में बड़ा ही साम्य और कहीं-कहीं वैषम्य भी बना ही रहता है। वैदिक और श्रमण— इन दोनों संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन वस्तुतः बड़ा ही रुचिकर और अनेक दृष्टियों से बड़ा उपयोगी विषय है।

ईश्वर, भगवान् या परमात्मा की अवधारणा में इन दोनों संस्कृतियों में वैसे तो अनेक अन्तर पाये जाते हैं, किन्तु सबसे बड़ा और मूलभूत अन्तर एक यही है कि हिन्दू धर्म के अनुयायी भगवान् को सृष्टि का नियन्ता अर्थात् कर्ता-धर्ता-हर्ता मानते हैं; जबकि जैन धर्म में भगवान् को वीतराग और सर्वज्ञ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मात्र ज्ञाता-द्रष्टा माना गया है, रंचमात्र भी कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं। यदि जैन धर्म और हिन्दू धर्म का यह एक मूल अन्तर समाप्त हो जाए तो उन दोनों के लगभग सभी अन्तर समाप्त हो जाएँगे।

73. अभिषेक (श्रीमहावीरजी सहस्राब्दी स्मारिका), पृष्ठ IV/5

74. “किन्तु इतिहास में एक और बात बिल्कुल स्पष्ट है। वह यह है कि जैन, बौद्ध और सनातन— तीनों धर्मों के विद्वान् उन दिनों एक साथ दूर-दूर के देशों में जाते थे, तीनों हर जगह मिलकर प्रेम के साथ रहते थे और उनमें से अनेक का रहन-सहन और उनके उपदेश, तीनों धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों और बहुमूल्य रत्नों का एक सुन्दर समन्वय होते थे।”

—भारत और मानव संस्कृति, भाग 2, पृष्ठ 127-28

सृष्टिकर्तावाद के इस मूलभूत अन्तर के कारण ही हिन्दू धर्म में अवतारवाद, अनादिसिद्धवाद, एकेश्वरवाद, सर्वव्यापकवाद आदि अनेक अन्तर और भी उत्पन्न हो गए हैं; जिनकी जैनाचार्यों ने स्थान-स्थान पर विस्तारपूर्वक समीक्षा की है।

जैन धर्म के अनुसार भगवान् जगत् के कर्ता-धर्ता-हर्ता कथमपि नहीं हो सकते, क्योंकि वे पूर्ण, कृतकृत्य, परमानन्दमय और वीतरागी हैं। परमानन्दमय और पूर्ण वीतराग मानने पर भगवान् के जगत्-कर्तृत्व कैसे सिद्ध हो सकता है?

इसके अतिरिक्त और भी अनेक तर्क जैनाचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें जानने के लिए आचार्य विद्यानन्द कृत आप्तपरीक्षा, आचार्य जिनसेन कृत महापुराण, आचार्य मल्लिषेण कृत स्याद्वादमंजरी (कारिका 6 की टीका) और पण्डित टोडरमल द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ सर्वप्रथम आचार्य जिनसेन कृत 'महापुराण' (हिन्दी-अनुवाद— डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य) का निम्नलिखित अंश अध्ययनार्थ प्रस्तुत है—

“जीवादि पदार्थों को अवगाह देनेवाला यह लोक अकृत्रिम है। किसी का बनाया हुआ नहीं है, नित्य है। इसका कभी सर्वथा प्रलय नहीं होता, अपने आप ही बना हुआ है और अनन्त आकाश के ठीक मध्य भाग में स्थित है। कितने ही मूढ़ लोग कहते हैं कि इस लोक का बनानेवाला कोई न कोई अवश्य है। ऐसे लोगों का दुराग्रह दूर करने के लिए यहाँ सर्वप्रथम सृष्टिवाद की ही परीक्षा की जाती है।

यदि यह मान लिया जाये कि इस लोक का कोई बनानेवाला है तो यह विचार करना चाहिए कि वह सृष्टि की रचना करने के पूर्व सृष्टि के बाहर कहाँ रहता था? किस जगह बैठकर लोक की रचना करता था? यदि यह कहो कि वह आधार-रहित और नित्य है तो उसने इस सृष्टि को कैसे बनाया और बनाकर कहाँ रखा?

दूसरी बात यह है कि आपने उस ईश्वर को एक तथा शरीर-रहित माना है— इससे भी वह सृष्टि का रचयिता नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही ईश्वर अनेक रूप संसार की रचना करने में समर्थ कैसे हो सकता

है? तथा शरीर-रहित अमूर्तिक ईश्वर से मूर्तिक वस्तुओं की रचना कैसे हो सकती है? क्योंकि लोक में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मूर्तिक वस्तुओं की रचना मूर्तिक पुरुषों-द्वारा ही होती है, जैसे कि मूर्तिक कुम्हार से मूर्तिक घट की ही रचना होती है।

एक बात यह भी है कि जब संसार के समस्त पदार्थ कारण-सामग्री के बिना नहीं बनाये जा सकते तब ईश्वर उसके बिना ही लोक को कैसे बना सकेगा? यदि यह कहो कि वह पहले कारण-सामग्री को बना लेता है, बाद में लोक को बनाता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। कारण-सामग्री को बनाने के लिए भी कारण-सामग्री की आवश्यकता होती है, यदि ईश्वर उस कारण-सामग्री को भी पहले बनाता है तो उसे द्वितीय कारण-सामग्री के योग्य तृतीय कारण-सामग्री को उसके भी पहले बनाना पड़ेगा और इस तरह उस परिपाटी का कभी अन्त नहीं होगा।

यदि यह कहो कि कारण-सामग्री स्वभाव से ही अपने आप बन जाती है, उसे ईश्वर ने नहीं बनाया है तो यह बात लोक में भी लागू हो सकती है। मानना चाहिए कि लोक भी स्वतःसिद्ध है, उसे किसी ने नहीं बनाया। यदि उसे किसी ने बनाया है तब तो ऊपर लिखे अनुसार अनवस्था दोष आता है और यदि वह स्वतःसिद्ध है— उसे किसी ने भी नहीं बनाया है तो यह लोक भी स्वतःसिद्ध हो सकता है, अपने आप बन सकता है।

यदि यह कहो कि वह ईश्वर स्वतन्त्र है तथा सृष्टि बनाने में समर्थ है इसलिए सामग्री के बिना ही इच्छा मात्र से लोक को बना लेता है तो यह आपकी इच्छा मात्र है। इस युक्तिशून्य कथन पर भला कौन बुद्धिमान मनुष्य विश्वास करेगा?

एक बात यह भी विचार करने योग्य है कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है— सब कार्य पूर्ण कर चुका है— उसे अब कोई कार्य करना बाकी नहीं रह गया है तो उसे सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही कैसे होगी? क्योंकि कृतकृत्य पुरुष को किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती। यदि यह कहो कि वह अकृतकृत्य है तो फिर वह लोक को बनाने के लिए भी समर्थ नहीं हो सकता।

एक बात यह भी है कि आपका माना हुआ ईश्वर अमूर्तिक है, निष्क्रिय है, व्यापी है और विकार-रहित है सो ऐसा ईश्वर कभी भी लोक को नहीं बना सकता, क्योंकि यह ऊपर लिख आये हैं कि अमूर्तिक ईश्वर से मूर्तिक पदार्थों की रचना नहीं हो सकती। किसी कार्य को करने के लिए हस्त-पादादि के संचालन रूप कोई-न-कोई क्रिया अवश्य करनी पड़ती है, परन्तु आपने तो ईश्वर को निष्क्रिय माना है, इसलिए वह लोक को नहीं बना सकता। यदि सक्रिय मानो तो वह असम्भव है, क्योंकि क्रिया उसी के हो सकती है जिसके कि अधिष्ठान से कुछ क्षेत्र बाकी बचा हो, परन्तु आपका ईश्वर तो सर्वत्रव्यापी है, वह क्रिया किस प्रकार कर सकेगा? इसके सिवाय ईश्वर को सृष्टि रचने की इच्छा भी नहीं हो सकती, क्योंकि आपने ईश्वर को निर्विकार माना है। जिसकी आत्मा में राग-द्वेष आदि विकार नहीं है, उसके इच्छा का उत्पन्न होना असम्भव है।

जब कि ईश्वर कृतकृत्य है तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी की चाह नहीं रखता तब सृष्टि के बनाने में इसे क्या फल मिलेगा— इस बात का भी तो विचार करना चाहिए, क्योंकि बिना प्रयोजन केवल स्वभाव से ही सृष्टि की रचना करता है तो उसकी वह रचना निरर्थक सिद्ध होती है। यदि यह कहो कि उसकी यह क्रीड़ा ही है, क्रीड़ा मात्र से ही जगत् को बनाता है तब तो दुःख के साथ कहना पड़ेगा कि आपका ईश्वर बड़ा मोही है, बड़ा अज्ञानी है जो कि बालकों के समान निष्प्रयोजन कार्य करता है।

यदि यह कहो कि ईश्वर जीवों के शरीरादिक उनके कर्मों के अनुसार ही बनाता है अर्थात् जो जैसा कर्म करता है, उसके वैसे ही शरीरादि की रचना करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार मानने से आपका ईश्वर, ईश्वर ही नहीं ठहरता। उसका कारण यह है कि वह कर्मों की अपेक्षा करने से जुलाहे की तरह परतन्त्र हो जायेगा और परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं रह सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार जुलाहा सूत तथा अन्य उपकरणों के परतन्त्र होता है तथा परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं कहलाता, इसी प्रकार आपका ईश्वर भी कर्मों के परतन्त्र है तथा परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं कहला सकता। ईश्वर तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हुआ करता है।

यदि यह कहो कि जीवों के कर्मों के अनुसार सुख-दुःखादि कार्य अपने-आप होते रहते हैं, ईश्वर उनमें निमित्त माना जाता है तो भी आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब सुख-दुःखादि कार्य कर्मों के अनुसार अपने आप सिद्ध हो जाते हैं तब खेद है कि आप व्यर्थ ही ईश्वर की पुष्टि करते हैं।

कदाचित् यह कहा जावे कि ईश्वर बड़ा प्रेमी है, दयालु है, इसलिए वह जीवों का उपकार करने के लिए ही सृष्टि की रचना करता है तो फिर उसे इस समस्त सृष्टि को सुखरूप तथा उपद्रव-रहित ही बनाना चाहिए था। दयालु होकर भी सृष्टि के बहुभाग को दुःखी क्यों बनाता है?

एक बात यह भी है कि सृष्टि से पहले जगत् था या नहीं? यदि था तो फिर स्वतःसिद्ध वस्तु के रचने में उसने व्यर्थ परिश्रम क्यों किया? और यदि नहीं था तो उसकी रचना वह क्या करेगा? क्योंकि जो वस्तु आकाश-कमल के समान सर्वथा असत् है, उसकी कोई रचना नहीं कर सकता।

यदि सृष्टि का बनानेवाला ईश्वर मुक्त है, कर्म-मल-कलंक से रहित है तो वह उदासीन— राग-द्वेष से रहित होने के कारण जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता और यदि संसारी है— कर्म-मल-कलंक से सहित है तो वह हमारे-तुम्हारे समान ही ईश्वर नहीं कहलायेगा, तब सृष्टि किस प्रकार करेगा? इस तरह यह सृष्टिवाद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

जरा इस बात का भी विचार कीजिए कि वह ईश्वर लोक को बनाता है इसलिए लोक के समस्त जीव उसकी सन्तान के समान हुए, फिर वही ईश्वर सबका संहार भी करता है इसलिए उसे अपनी सन्तान के नष्ट करने का भारी पाप लगता है। कदाचित् यह कहो कि दुष्ट जीवों का निग्रह करने के लिए ही वह संहार करता है तो उससे अच्छा तो यही था कि वह दुष्ट जीवों को उत्पन्न ही नहीं करता।

यदि आप यह कहें कि जीवों के शरीरादि की उत्पत्ति किसी बुद्धिमान कारण से ही हो सकती है, क्योंकि उनकी रचना एक विशेष प्रकार की है। जिस प्रकार किसी ग्राम आदि की रचना विशेष प्रकार की होती है, अतः वह किसी बुद्धिमान कारीगर का बनाया हुआ होता है, उसी प्रकार जीवों के शरीरादि की रचना भी विशेष प्रकार की है, अतः वे किसी बुद्धिमान

कर्ता के बनाये हुए हैं और वह बुद्धिमान कर्ता ईश्वर ही है, परन्तु आपका यह हेतु भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने में समर्थ नहीं, क्योंकि विशेष रचना आदि की उत्पत्ति अन्य प्रकार से भी हो सकती है।

इस संसार में शरीर, इन्द्रियाँ, सुख-दुःख आदि जितने भी अनेक प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं; उन सबकी उत्पत्ति चेतन आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कर्मरूपी विधाता के द्वारा ही होती है, इसलिए हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि संसारी जीवों के अंग-उपांग आदि में जो विचित्रता पायी जाती है, वह सब निर्माण नामक नामकर्म रूपी विधाता की कुशलता से ही उत्पन्न होती है।

इन कर्मों की विचित्रता से अनेकरूपता को प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक रूपधारी संसार का कर्ता संसारी जीवों की आत्माएँ ही हैं और कर्म उनके सहायक हैं। अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्म के उदय से प्रेरित होकर शरीर आदि संसार की सृष्टि करते हैं।

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर— ये सब कर्मरूपी ईश्वर के पर्यायवाची शब्द हैं। इनके सिवाय और कोई लोक का बनानेवाला नहीं है।

जब कि ईश्वरवादी पुरुष आकाश, काल आदि की सृष्टि ईश्वर के बिना ही मानते हैं तब उनका यह कहना कहाँ रहा कि संसार की सब वस्तुएँ ईश्वर के द्वारा बनायी गयी हैं? इस प्रकार प्रतिज्ञा भंग होने के कारण शिष्ट पुरुषों को चाहिए कि वे ऐसे सृष्टिवादी का निग्रह करें जो कि व्यर्थ ही मिथ्यात्व के उदय से अपने दूषित मत का अहंकार करता है।

इसलिए मानना चाहिए कि यह लोक काल द्रव्य की भाँति ही अकृत्रिम है, अनादि-निधन है— आदि-अन्त से रहित है, जीव-अजीव आदि तत्त्वों का आधार होकर हमेशा प्रकाशमान रहता है, न इसे कोई बना सकता है, न इसका संहार कर सकता है, यह हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान रहता है तथा अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक— इन तीन भेदों से सहित हैं।⁷⁵

75. आचार्य जिनेसन, महापुराण 4/15-40

इसी प्रकार आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल कृत 'मोक्षमार्गप्रकाशक' (हिन्दी-भाषान्तर— मगनलाल जैन) का निम्नलिखित उद्धरण भी विशेषतया द्रष्टव्य है, जो यद्यपि कुछ विस्तृत है, परन्तु इस सन्दर्भ में बड़ा उपयोगी है; अतः पठनार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

“अब, उस ब्रह्म को लोक का कर्ता मानता है, उसे मिथ्या दिखलाते हैं।

प्रथम तो ऐसा मानता है कि ब्रह्म को ऐसी इच्छा हुई कि— ‘एकोऽहं बहुस्यां’ अर्थात् मैं एक हूँ सो बहुत होऊँगा।

वहाँ पूछते हैं— पूर्व अवस्था में दुःखी हो, तब अन्य अवस्था को चाहे। सो ब्रह्म ने एक अवस्था से बहुरूप होने की इच्छा की तो उस एकरूप अवस्था में क्या दुःख था?

तब वह कहता है कि दुःख तो नहीं था, ऐसा ही कौतूहल उत्पन्न हुआ। उसे कहते हैं— यदि पहले थोड़ा सुखी हो और कौतूहल करने से बहुत सुखी हो तो कौतूहल करने का विचार करे। सो ब्रह्मा को एक अवस्था से बहुत अवस्थारूप होने पर बहुत सुख होना कैसे सम्भव है? और यदि पूर्व ही सम्पूर्ण सुखी हो तो अवस्था किसलिए पलटे? प्रयोजन बिना तो कोई कुछ कर्तव्य करता नहीं है।

तथा पहले भी सुखी होगा, इच्छानुसार कार्य होने पर भी सुखी होगा, परन्तु इच्छा हुई उस काल तो दुःखी होगा? तब वह कहता है— ब्रह्म के जिस काल इच्छा होती है, उस काल ही कार्य होता है, इसलिए दुःखी नहीं होता। वहाँ कहते हैं— स्थूल काल की अपेक्षा तो ऐसा मानो, परन्तु सूक्ष्म काल की अपेक्षा तो इच्छा का और कार्य का होना युगपत् सम्भव नहीं है। इच्छा तो तभी होती है, जब कार्य न हो। कार्य हो तब इच्छा नहीं रहती इसलिए सूक्ष्म काल मात्र इच्छा रही, तब तो दुःखी हुआ होगा, क्योंकि इच्छा है सो ही दुःख है, और कोई दुःख का स्वरूप है नहीं। इसलिए ब्रह्म के इच्छा कैसे बने?’⁷⁶

“फिर वे कहते हैं— ब्रह्मा तो सृष्टि उत्पन्न करते हैं, विष्णु रक्षा

76. पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पाँचवाँ अधिकार, पृष्ठ 99-100

करते हैं, महेश संहार करते हैं; सो ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि इन कार्यों को करते हुए कोई कुछ करना चाहेगा, कोई कुछ करना चाहेगा, तब परस्पर विरोध होगा और यदि तू कहेगा कि यह तो एक परमेश्वर का ही स्वरूप है तो विरोध किसलिए होगा? तो आप ही उत्पन्न करे, आप ही नष्ट करे— ऐसे कार्य में कौन फल है? यदि सृष्टि अपने को अनिष्ट है तो किसलिए उत्पन्न की और इष्ट है तो किसलिए नष्ट की? और यदि पहले इष्ट लगी तब उत्पन्न की, फिर अनिष्ट लगी तब नष्ट कर दी— ऐसा है तो परमेश्वर का स्वभाव अन्यथा हुआ या सृष्टि का स्वरूप अन्यथा हुआ। यदि प्रथम पक्ष ग्रहण करेगा तो परमेश्वर का एक स्वभाव नहीं ठहरा सो एक स्वभाव न रहने का कारण क्या है? वह बतला। बिना कारण स्वभाव का पलटना किसलिए होगा? और द्वितीय पक्ष ग्रहण करेगा तो सृष्टि तो परमेश्वर के आधीन थी, उसे ऐसी क्यों होने दिया कि अपने को अनिष्ट लगे?

तथा हम पूछते हैं— ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करते हैं सो कैसे उत्पन्न करते हैं? एक प्रकार तो यह है कि जैसे मन्दिर बनानेवाला चूना, पत्थर आदि सामग्री एकत्रित करके आकारादि बनाता है; उसी प्रकार ब्रह्मा सामग्री एकत्रित करके सृष्टि की रचना करता है तो वह सामग्री जहाँ से लाकर एकत्रित की, वह ठिकाना बतला और एक ब्रह्मा ने ही इतनी रचना बनाई सो पहले-बाद में बनाई होगी या अपने शरीर के हस्तादि बहुत किये होंगे, वह कैसे? सो बतला। जो बतलायेगा, उसी में विचार करने से विरुद्ध भासित होगा।

तथा एक प्रकार यह है कि जिस प्रकार राजा आज्ञा करे, तदनुसार कार्य होता है; उसी प्रकार ब्रह्मा की आज्ञा से सृष्टि उत्पन्न होती है तो आज्ञा किनको दी? और जिन्हें आज्ञा दी, वे कहाँ से सामग्री लाकर कैसे रचना करते हैं, सो बतला।

तथा एक प्रकार यह है कि जिस प्रकार ऋद्धिधारी इच्छा करे, तदनुसार कार्य स्वयमेव बनता है; उसी प्रकार ब्रह्मा इच्छा करे, तदनुसार सृष्टि उत्पन्न होती है, तब ब्रह्मा तो इच्छा ही का कर्ता हुआ, लोक तो स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ। तथा इच्छा तो परमब्रह्मा ने की थी, ब्रह्मा का कर्तव्य क्या हुआ? जिससे

ब्रह्म को सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला कहा? तथा तू कहेगा— परमब्रह्म ने भी इच्छा की और ब्रह्मा ने भी इच्छा की, तब लोक उत्पन्न हुआ तो मालूम होता है कि केवल परमब्रह्म की इच्छा कार्यकारी नहीं है, वहाँ शक्तिहीनपना आया।

तथा हम पूछते हैं— यदि लोक केवल बनाने से बनता है, तब बनानेवाला तो सुख के अर्थ बनायेगा तो इष्ट ही रचना करेगा। इस लोक में तो इष्ट पदार्थ थोड़े देखे जाते हैं, अनिष्ट बहुत देखे जाते हैं। जीवों में देवादिक बनाये, सो तो रमण करने के अर्थ व भक्ति कराने के अर्थ इष्ट बनाये और लट, कीड़ी, कुत्ता, सुअर, सिंहादिक बनाये सो किस अर्थ बनाये? वे तो रमणीक नहीं हैं, भक्ति नहीं करते, सर्व प्रकार अनिष्ट ही है। तथा दरिद्री, दुःखी नारकियों को देखकर अपने जुगुप्सा, ग्लानि आदि दुःख उत्पन्न हों— ऐसे अनिष्ट किसलिए बनाये?

वहाँ वह कहता है कि जीव अपने पाप से लट, कीड़ी, दरिद्री, नारकी आदि पर्याय भुगतते हैं। उससे पूछते हैं कि बाद में तो पाप ही के फल से ये पर्यायें हुई कहो, परन्तु पहले लोकरचना करते ही इनको बनाया, सो किस अर्थ बनाया? तथा बाद में जीव पापरूप परिणमित हुए सो कैसे परिणमित हुए? यदि आप ही परिणमित हुए कहोगे तो मालूम होता है कि ब्रह्मा ने पहले तो उत्पन्न किये, फिर वे इसके आधीन नहीं रहे, इस कारण ब्रह्मा को दुःख ही हुआ। तथा यदि कहोगे कि ब्रह्मा के परिणमित करने से परिणमित होते हैं तो उन्हें पापरूप किसलिए परिणमित किया? जीव तो आपने उत्पन्न किये थे, उनका बुरा किस अर्थ किया? इसलिए ऐसा भी नहीं बनता।

तथा अजीवों में सुवर्ण-सुगन्धादि सहित वस्तुएँ बनाईं सो तो रमण करने के अर्थ बनाईं, कुवर्ण-दुर्गन्धादि सहित वस्तुएँ बनाईं सो किस अर्थ बनाईं? इनके दर्शनादि से ब्रह्मा को सुख तो नहीं उत्पन्न होता होगा। तथा तू कहेगा कि पापी जीवों को दुःख देने के अर्थ बनाईं तो अपने ही उत्पन्न किये जीव, उनसे ऐसी दुष्टता किसलिए की, जो उनको दुःखदायक सामग्री पहले ही बनाईं? तथा धूल, पर्वतादि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जो रमणीक भी नहीं हैं और दुःखदायक भी नहीं हैं, उन्हें किस अर्थ बनाया? स्वयमेव

तो जैसी-तैसी ही होती हैं और बनानेवाला जो बनाये, वह तो प्रयोजन सहित ही बनाता है, इसलिए ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता कैसे कहा जाता है?

तथा विष्णु को लोक का रक्षक कहते हैं। रक्षक हो, वह तो दो ही कार्य करता है— एक तो दुःख-उत्पत्ति के कारण नहीं होने देता और एक विनष्ट होने के कारण नहीं होने देता। सो लोक में तो दुःख ही की उत्पत्ति के कारण जहाँ-तहाँ देखे जाते हैं और उनसे जीवों को दुःख ही देखा जाता है। क्षुधा-तृषादि लग रहे हैं, शीत-उष्णादिक से दुःख होता है, जीव परस्पर दुःख उत्पन्न करते हैं, शस्त्रादि दुःख के कारण बन रहे हैं तथा विनष्ट होने के अनेक कारण बन रहे हैं। जीवों को रोगादिक व अग्नि, विष, शस्त्रादिक पर्याय के नाश के कारण देखे जाते हैं तथा अजीवों के भी परस्पर विनष्ट होने के कारण देखे जाते हैं। सो ऐसे दोनों प्रकार से ही रक्षा नहीं की तो विष्णु ने रक्षक होकर क्या किया?

वह कहता है कि विष्णु रक्षक ही है। देखो, क्षुधा-तृषादि के अर्थ अन्न-जलादिक बनाये हैं, कीड़ी को कण और कुंजर को मन पहुँचाता है, संकट में सहायता करता है। मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर टिटहरी की भाँति उबारता है— इत्यादि प्रकार से विष्णु रक्षा करता है। उससे कहते हैं कि ऐसा है तो जहाँ जीवों को क्षुधा-तृषादिक बहुत पीड़ित करते हैं और अन्न-जलादिक नहीं मिलते हैं, संकट पड़ने पर सहाय नहीं होती, किञ्चित् कारण पाकर मरण हो जाता है, वहाँ विष्णु की शक्ति हीन हुई या उसे ज्ञान ही नहीं हुआ?

लोक में बहुत तो ऐसे ही दुःखी होते हैं; मरण पाते हैं; विष्णु ने रक्षा क्यों नहीं की? तब वह कहता है कि यह जीवों के अपने कर्तव्य का फल है। तब उससे कहते हैं कि जैसे शक्तिहीन लोभी झूठा वैद्य, किसी का कुछ भला हो तो कहता है— मेरा किया हुआ है और जहाँ बुरा हो, मरण हो, तब कहता है कि इसकी ऐसी ही होनहार थी; उसी प्रकार तू कहता है कि भला हुआ, वहाँ तो विष्णु का किया हुआ और बुरा हुआ सो इसके कर्तव्य का फल हुआ। इस प्रकार झूठी कल्पना किसलिए करें? या तो बुरा व भला दोनों विष्णु के किये कहो, या अपने कर्तव्य का फल कहो। यदि विष्णु का किया हुआ कहो तो बहुत जीव दुःखी और शीघ्र

मरते देखे जाते हैं सो ऐसा कार्य करे, उसे रक्षक कैसे कहें? तथा अपने कर्तव्य का फल है तो जो करेगा सो पायेगा, विष्णु क्या रक्षा करेगा?

तब वह कहता है कि जो विष्णु के भक्त हैं उनकी रक्षा करता है, उससे कहते हैं कि यदि ऐसा है तो कीड़ी, कुंजर आदि भक्त नहीं हैं, उनको अन्नादिक पहुँचाने में संकट में सहाय होने में व मरण न होने में विष्णु का कर्तव्य मानकर सर्व का रक्षक किसलिए मानता है, भक्तों ही का रक्षक मान। तथा भक्तों का भी रक्षक नहीं दीखता, क्योंकि अभक्त भी भक्त पुरुषों को पीड़ा उत्पन्न करते देखे जाते हैं। तब वह कहता है कि कई जगह प्रह्लादादिक की सहाय की है। उससे कहते हैं— जहाँ सहाय की, वहाँ तो तू वैसा ही मान, परन्तु हम तो प्रत्यक्ष म्लेच्छ, मुसलमान आदि अभक्त पुरुषों द्वारा भक्त पुरुषों को पीड़ित होते देख व मन्दिरादि को विघ्न करते देखकर पूछते हैं कि यहाँ सहाय नहीं करता सो शक्ति नहीं है या खबर ही नहीं है। यदि शक्ति नहीं है तो इनसे भी हीन शक्ति का धारक हुआ। यदि खबर ही नहीं है तो जिसे इतनी भी खबर नहीं है सो अज्ञान हुआ। और यदि तू कहेगा कि शक्ति भी है और जानता भी है; परन्तु इच्छा ऐसी ही हुई; तो फिर भक्तवत्सल किसलिए कहता है?

इस प्रकार विष्णु को लोक का रक्षक मानना नहीं बनता।

फिर वे कहते हैं कि महेश संहार करता है सो उनसे पूछते हैं कि प्रथम तो महेश सदा संहार करता है या महाप्रलय होता है तभी करता है। यदि सदा करता है तो जिस प्रकार रक्षा करने से विष्णु की स्तुति की, उसी प्रकार उसकी संहार करने से निन्दा करो, क्योंकि रक्षा और संहार प्रतिपक्षी हैं। तथा यह संहार कैसे करता है? जैसे— पुरुष, हस्तादि से किसी को मारे या कहकर मरवाये, उसी प्रकार महेश अपने अंगों से संहार करता है या आज्ञा से मरवाता है? तब क्षण-क्षण में संहार तो बहुत जीवों का सर्व लोक में होता है, यह कैसे-कैसे अंगों से व किस-किस को आज्ञा देकर युगपत् कैसे संहार करता है? तथा महेश तो इच्छा ही करता है, उसकी इच्छा से स्वयमेव उनका संहार होता है तो उसके सदाकाल मारनेरूप दुष्ट परिणाम ही रहा करते होंगे और अनेक जीवों को एक साथ मारने की इच्छा कैसे होती होगी? तथा यदि महाप्रलय होने पर संहार करता है तो परमब्रह्म

की इच्छा होने पर करता है या उनकी बिना इच्छा ही करता है? यदि इच्छा होने पर करता है तो परमब्रह्म को ऐसा क्रोध कैसे हुआ कि सर्व का प्रलय करने की इच्छा हुई? क्योंकि किसी कारण बिना नाश करने की इच्छा नहीं होती और नाश करने की जो इच्छा उसी का नाम क्रोध है, सो कारण बताता।

तथा तू कहेगा कि परमब्रह्म ने यह खेल बनाया था, फिर दूर कर दिया, कारण कुछ भी नहीं है तो खेल बनाने वाले को भी खेल इष्ट लगता है तब बनाता है, अनिष्ट लगता है तब दूर करता है। यदि उसे लोक इष्ट-अनिष्ट लगता है तो उसे लोक से राग-द्वेष तो हुआ। ब्रह्म का स्वरूप साक्षीभूत किसलिए कहते हो? साक्षीभूत तो उसका नाम है, जो स्वयमेव जैसे हो उसी प्रकार देखता-जानता रहे। यदि इष्ट-अनिष्ट मानकर उत्पन्न करे, नष्ट करे उसे साक्षीभूत कैसे कहें? क्योंकि साक्षीभूत रहना और कर्ता-हर्ता होना—यह दोनों परस्पर विरोधी हैं; एक को दोनों सम्भव नहीं हैं।

तथा परमब्रह्म के पहले तो यह इच्छा हुई थी कि 'मैं एक हूँ, सो बहुत होऊँगा।' तब बहुत हुआ। अब ऐसी इच्छा हुई होगी कि 'मैं बहुत हूँ, सो कम होऊँगा।' सो जैसे कोई भोलेपन से कार्य करके फिर उस कार्य को दूर करना चाहे, उसी प्रकार परमब्रह्म ने भी बहुत होकर एक होने की इच्छा की, सो मालूम होता है कि बहुत होने का कार्य किया होगा सो भोलेपन ही से किया होगा, आगामी के ज्ञान से किया होता तो किसलिए उसे दूर करने की इच्छा होती? तथा यदि परमब्रह्म की इच्छा बिना ही महेश संहार करता है तो यह परमब्रह्म का व ब्रह्म का विरोधी हुआ।

फिर पूछते हैं कि यह महेश लोक का संहार कैसे करता है? अपने अंगों से संहार करता है कि इच्छा होने पर स्वयमेव ही संहार होता है? यदि अपने अंगों से संहार करता है तो सबका एक साथ संहार कैसे करता है? तथा इसकी इच्छा होने से स्वयमेव संहार होता है, तब इच्छा तो परमब्रह्म ने की थी, इसने संहार क्यों किया?

फिर हम पूछते हैं कि संहार होने पर सर्व लोक में जो जीव-अजीव थे, वे कहाँ गये? तब वह कहता है कि जीवों में जो भक्त थे, वे तो ब्रह्म में मिल गये, अन्य माया में मिल गये। अब इससे पूछते हैं कि माया,

ब्रह्म से अलग रहती है कि बाद में एक हो जाती है? यदि अलग रहती है तो ब्रह्मवत् माया भी नित्य हुई, तब अद्वैत ब्रह्म नहीं रहा और यदि माया ब्रह्म में एक हो जाती है तो जो माया में मिले थे, वे भी माया के साथ ब्रह्म में मिल गये तो महाप्रलय होने पर सर्व का परमब्रह्म में मिलना ठहरा ही, तब मोक्ष का उपाय किसलिए करें?

तथा जो जीव माया में मिले, वे पुनः लोकरचना होने पर वे ही जीव लोक में आयेंगे या वे तो ब्रह्म में मिल गये थे इसलिए नये उत्पन्न होंगे? यदि वे ही आयेंगे तो मालूम होता है, अलग-अलग रहते हैं, मिले क्यों कहते हो? और यदि नये उत्पन्न होंगे तो जीव का अस्तित्व थोड़े काल पर्यन्त ही रहता है, फिर किसलिए मुक्त होने का उपाय करें?

तथा वह कहता है कि पृथ्वी आदि हैं, वे माया में मिलते हैं, सो माया अमूर्तिक सचेतन है या मूर्तिक अचेतन? यदि अमूर्तिक सचेतन है तो अमूर्तिक में मूर्तिक अचेतन कैसे मिलेगा? और मूर्तिक अचेतन है तो यह ब्रह्म में मिलता है या नहीं? यदि मिलता है तो इसके मिलने से ब्रह्म भी मूर्तिक अचेतन से मिश्रित हुआ। और नहीं मिलता है तो अद्वैतता नहीं रही। और यदि तू कहेगा कि यह सर्व अमूर्तिक अचेतन हो जाते हैं तो आत्मा शरीरादिक की एकता हुई सो यह संसारी एकता मानता ही है, इसे अज्ञानी किसलिए कहें?

फिर पूछते हैं कि लोक का प्रलय होने पर महेश का प्रलय होता है या नहीं? यदि होता है तो एक साथ होता है या आगे-पीछे होता है? यदि एक साथ होता है तो आप नष्ट होता हुआ लोक को नष्ट कैसे करेगा? और आगे पीछे होता है तो महेश लोक को नष्ट करके आप कहाँ रहा, आप भी तो सृष्टि में ही था?

इस प्रकार महेश को सृष्टि का संहारकर्ता मानते हैं, सो असम्भव है।

इस प्रकार से व अन्य अनेक प्रकार से ब्रह्मा, विष्णु, महेश को सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला, रक्षा करनेवाला, संहार करनेवाला मानना नहीं बनता, इसलिए लोक को अनादिनिधन मानना।⁷⁷

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर, परमात्मा या भगवान् को सृष्टि

77. पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पाँचवाँ अधिकार, पृष्ठ 105-110

का नियन्ता (कर्ता-धर्ता-हर्ता) मानना एक ऐसी मूलभूत भूल है जो और भी अनेक भूलों को जन्म देती है। जिस प्रकार यदि प्रथम घट ही उल्टा रखा जाएगा तो उसके ऊपर रखे जानेवाले सारे घट उलटे ही रखे जाएँगे; उसी प्रकार सृष्टिकर्तावाद कोई साधारण भूल नहीं है, अपितु अनेकानेक दूसरी भूलों की भी जननी है, मूलभूत भूल है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने इसे महापाप मिथ्यात्व की संज्ञा प्रदान की है, जो जीव को अनन्त संसार में भ्रमण कराता है।

दरअसल सृष्टिकर्तावाद की मान्यता इतनी स्पष्ट भूल है कि वह किसी भी समझदार को बिल्कुल गले नहीं उतरती। जैसे— विचारणीय है कि यदि ईश्वर ही कर्ता हो तो गेहूँ के बीज से गेहूँ ही क्यों उत्पन्न होता है, बाजरा क्यों नहीं? लकड़ी ही पानी में क्यों तैरती है, लोहा क्यों नहीं? इसी प्रकार विचारणीय है कि यदि ईश्वर ही कर्ता है तो वह सीधे दाल-रोटी ही पेड़ पर क्यों नहीं लगाता? अपने भक्तों से भोजन तैयार करने का परिश्रम क्यों कराता है? इसी प्रकार यदि ईश्वर ही सब कुछ करता है तो ब्राह्मण को जनेऊ-चोटी के साथ, क्षत्रिय को छत्र-सिंहासन के साथ, वैश्य को बहीखाते-तराजू के साथ और शूद्र को झाड़ू के साथ ही पैदा क्यों नहीं किया?

इसी प्रकार और भी अनेकानेक आपत्तियाँ ईश्वर को कर्ता मानने में आती हैं। कर्म-सिद्धान्त और कारण-कार्य-व्यवस्था तो कुछ ठहरती ही नहीं। अच्छे-बुरे या पुण्य-पाप का अन्तर भी सब समाप्त हो जाता है।

दरअसल, इस जगत् में सब कुछ एक निश्चित कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुसार वैज्ञानिक रूप से घटित हो रहा है, उसमें ईश्वर की कोई मध्यवर्ती भूमिका नहीं है। जीव स्वयं ही अपने भावों के अनुसार प्रवृत्ति करते हुए सुख-दुःख उठाते हैं।

उदाहरणार्थ— मान लीजिए, हमारी अंगुली चाकू से कट गई या आग से जल गई तो वहाँ कटने या जलने में ईश्वर की क्या आवश्यकता है? ऐसा तो वस्तु-स्वरूप ही है। अंगुली को ईश्वर ने नहीं, चाकू या आग ने काटा/जलाया है तथा यदि और सूक्ष्मता से देखें तो चाकू या आग ने भी काटा/जलाया नहीं है, अपितु हमारी गलती से ही ऐसा हुआ है। यदि

चाकू काटता तो सबकी अंगुली क्यों नहीं काटता? जो गलती करता है, उसी की क्यों काटता है? अतः स्पष्ट है कि जीव या जीव के अपने कर्म ही सुख-दुःख के दाता हैं, ईश्वर नहीं।

भगवान् को सृष्टिकर्ता मानने से भगवान का महिमा-मण्डन भी नहीं होता, अपितु इससे तो उनकी महिमा कम ही होती है।⁷⁸ आधुनिक विज्ञान भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग के अनेक विचारक भी सृष्टिकर्तावाद के विरुद्ध हैं; जिनमें एच.जी. वेल्स, जूलियन ह्यूम, काण्ट, स्पेंसर, टिण्डल, प्रो. नाईट, जे.एल.मिल., जे रार्ड, हॉपकिन्स आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।⁷⁹

प्रख्यात बैरिस्टर चम्पतरायजी के विचार भी इस सन्दर्भ में विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

“The First Question, which arises in connection with the idea of creation is, why should God make the world at all? One system suggests, that he wanted to make the world, because it please him to do so. Another, that he felt lonely and wanted company. A third, that he wanted to create beings who would praise his glory and worship. A fourth, that he does it in sport and so on.

why should it please the creator to create a world, where sorrow and pain the inevitable of the majority of his creations? why should he not make happier being to keep him company?”⁸⁰

78. ‘भारतीय धर्म-दर्शन में निरीश्वरवाद का प्रमुख स्थान है। यह भारतीय धर्म-दर्शन की कमी नहीं, वरन् विश्व को यह इसकी मुख्य देन है। यह इस बात का भी द्योतक है कि भारतीय विचारक निर्भीक और स्वतन्त्र चिन्तक थे और उनके विचारों में मानवतावाद विशेष रूप से विद्यमान था अर्थात् मानव अपने ही स्वतन्त्र प्रयास से बिना आधिदैविक शक्तियों को स्वीकार किए हुए अपना संवर्धन अथवा निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है।’

—डॉ. याकूब मसीह, निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य, पृष्ठ 67

79. पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, स्याद्वाद, पृष्ठ 284

80. बैरिस्टर चम्पतराय, की ऑफ नॉलेज, पृष्ठ 135

अर्थ— प्रथम प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर ने इस विश्व का निर्माण क्यों किया? एक मत कहता है कि इससे उसे आनन्द की उपलब्धि हुई। दूसरा कहता है कि वह अकेलेपन का अनुभव करता था, इसलिए उसे साथी चाहिए थे। तीसरा मत कहता है कि वह ऐसे प्राणियों का निर्माण करना चाहता था, जो उसका गुणगान करें तथा पूजा करें। चौथा पक्ष कहता है कि वह विनोदवश विश्वनिर्माण करता है।

इस विषय में यह विचार उत्पन्न होता है कि विश्वकर्ता की ऐसा जगत्-निर्माण करने की इच्छा क्यों हुई, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों को नियमतः दुःख और शोक भोगने पड़ते हैं? उसने अधिक सुखी प्राणी क्यों नहीं बनाए, जो उसके साथ में रहते?

इतना ही नहीं, स्वयं हिन्दू धर्म में भी अनेक ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर ऐसी बातें कहीं गई हैं कि ईश्वर के सृष्टिकर्तावाद का स्पष्ट निराकरण हो जाता है। यथा 'श्रीमद्भागवत' में लिखा है—

“नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।

मनः परं कारणमानन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥”⁸¹

अर्थ— इस जीव के सुख और दुःखों का कारण कोई अन्य व्यक्ति, देवता, ग्रह, कर्म, काल आदि नहीं हैं, अपितु इसके अपने मनोभाव ही हैं, जिनके कारण यह जीव संसार-चक्र में परिवर्तन करता है।

‘श्रीमद्भागवत’ में ही आगे और भी इसी प्रकार कहा है—

“सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः ।

मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥”⁸²

अर्थ— दूसरा कोई भी किसी को सुख-दुःख नहीं देता। पुरुष का आत्म-विभ्रम ही दुःखों का मूल है। मित्र, सामान्यजन एवं शत्रुरूप संसार अज्ञानान्धकार से ही बना है।

‘गीता’ में तो स्पष्ट लिखा है कि—

81. श्रीमद्भागवत 11/23/43

82. श्रीमद्भागवत 11/23/60

“न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजते प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगः स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥”⁸³

अर्थ— प्रभु स्वयं लोक का कर्ता नहीं है, लोक उसका कर्म नहीं है, कर्मफल-संयोग भी वह नहीं कराता, सब स्वभाव ही प्रवर्तित हो रहा है।

अनेक हिन्दी-कवियों ने भी ईश्वर-कर्तृत्व का सशक्त निराकरण किया है। उदाहरणार्थ सुन्दरदास कवि का निम्नलिखित पद विशेषरूप से उल्लेखनीय है—

“ब्रह्म कुलाल रचै बहु भाजन, कर्मनि के बसि मोहि न भावै ।
विष्णु हू संकट आई सहै गर्भ, काहू कौ रक्षक काहू सतावै ॥
शंकर भूत पिशाचनि के पति, पानि कपाल लिये बिललावै ।
याहि तैं सुन्दर त्रिगुन त्यागि, सु निर्मल एक निरंजन ध्यावै ॥”⁸⁴

इसी प्रकार मलूकदास कवि का भी कहना है—

“दस अवतार कहाँ तैं आये, किन रे गढ़े करतार ॥”⁸⁵

महात्मा कबीर ने भी कर्म की ही स्थापना करते हुए ईश्वर-कर्तृत्व का एक ‘बीजक’ में इस प्रकार निराकरण किया है—

“आपन कर्म न मेटो जाई ।
कर्म का लिखा मिटे द्यौ कैसे, जो जुग कोटि सिराई ॥
गुरु वसिष्ठ मिलि नगर सोधाई, सूर्यमन्त्र एक दीन्हा ।
जो सीता रघुनाथ विवाही, पल एक संच न कीन्हा ॥
तीन लोक के कर्ता कहिए, बालि बंधे वरियाई ।
एक समय ऐसी बनि आई, उनहू औसर पाई ॥
नारद मुनि को वदन छिपायो, कीन्हों कपि को रूपा ।
सिसुपाल की भुजा उपारिन, आप मथे हरि दूँढ़ा ॥
पारबती को बाँझन कहिए, ईसस कहिए भिखारी ।
कहै कबीर कर्ता की बातें, कर्म की बात नियारी ॥”⁸⁶

83. भगवद्गीता 5/14

84. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग 2, पृष्ठ 1

85. मलूक बानी, पृष्ठ 43

86. कबीर बीजक, पृष्ठ 146

सृष्टिकर्तावाद से ही अवतारवाद भी प्रस्फुटित होता है, जो किसी भी बुद्धिमान को स्वीकार नहीं होता, क्योंकि इससे ईश्वर की सारी महिमा खत्म हो जाती है। इसीलिए कविवर दादू दयाल स्पष्ट लिखते हैं—

“जनमत है औतारा, तहाँ न मानै मना हमारा ॥”⁸⁷

इसी प्रकार यारी साहब भी कहते हैं—

“आवै न जाय, मरै नहिं जीवै, यारी यार हमारा है।”⁸⁸

इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म के अन्तर्गत आनेवाले सांख्य, योग, मीमांसा आदि अनेक सम्प्रदाय भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता मूलतः स्वीकार नहीं करते हैं। उनके यहाँ सृष्टि के निर्माण-विनाश की प्रक्रिया स्वतन्त्रतया समझाई गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म के ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र ईश्वर को पूर्ण शुद्ध, वीतराग, परमानन्दमय, कृतकृत्य, अकार्यकारण⁸⁹ और सम्पूर्ण जगत् का मात्र साक्षी निरूपित किया है और वैसा ही जैन धर्म में भी कहा है। जगत्पालनकर्ता की बात मात्र उपचार या व्यवहार से भक्तजन सदा ही कहते चले आये हैं, उसमें परमार्थ नहीं है, उसे व्यवहार मात्र ही समझना योग्य है।

87. दादूदयाल की बानी, भाग 2, पद 53

88. यारी साहब की रत्नावली, पृष्ठ 2

89. ‘न तस्य कार्य-करणं च विद्यते।’— श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/8

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में
आत्मा और परमात्मा

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा

दर्शन और विज्ञान

आज का युग वैज्ञानिक युग है। लोग विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित और चमत्कृत हैं। बात-बात पर विज्ञान की बात करते और पूछते हैं। अतः जब भी हम कोई दर्शनशास्त्र की बात करते हैं, तब भी वे तुरन्त 'विज्ञान इस विषय में क्या कहता है' अथवा 'इसका वैज्ञानिक आधार/प्रमाण क्या है'—इत्यादि प्रकार की बातें करने लग जाते हैं।

विचारणीय है कि दर्शन और विज्ञान में क्या अन्तर है? क्या दर्शन भी विज्ञान ही नहीं है?

मैं तो समझता हूँ कि दर्शन भी विज्ञान ही है, दर्शन और विज्ञान में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है; क्योंकि दोनों ही तर्क, युक्ति या परीक्षा से प्राप्त निष्कर्षों को ही स्वीकार करने पर जोर देते हैं।

दरअसल ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे आधुनिक युग में 'विज्ञान' कहते हैं, उसे ही प्राचीन युग में 'दर्शन' कहा जाता था, अतः दर्शन भी वस्तुतः विज्ञान ही है और विज्ञान भी वस्तुतः दर्शन ही है, दोनों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। मात्र 'प्राचीन' और 'आधुनिक' का ही इन दोनों में अन्तर आज हो गया है। 'विज्ञान' नाम भी वस्तुतः कोई नया नहीं है, दर्शन-ग्रन्थों में पहले से ही अनेक स्थानों पर 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे— जैनदर्शन को 'वीतराग-विज्ञान' शब्द से बहुत बार सम्बोधित किया गया है। यथा—

(क) 'मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।'

1. पं. टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक, मंगलाचरण

(ख) 'तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।'²

(ग) 'जय वीतराग-विज्ञान पूर।'³

(घ) 'वन्दूँ श्री अरिहंत पद, वीतराग-विज्ञान।'⁴

इसके अतिरिक्त आज भी जैन दर्शन की एक प्रमुख पत्रिका 'वीतराग-विज्ञान' नाम से प्रकाशित होती है।⁵

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रों में 'दर्शन' के लिए 'विज्ञान' शब्द का भी प्रयोग होता रहा है और उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दर्शन और विज्ञान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

ध्यान रहे हम यहाँ यह नहीं कहना चाहते हैं कि 'धर्म' और 'विज्ञान' में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि धर्म और विज्ञान में तो अन्तर है, बहुत अन्तर है; परन्तु हमारा कहना है कि दर्शन और विज्ञान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

इसके लिए सर्वप्रथम धर्म और दर्शन में अन्तर समझ लेना उपयोगी होगा। डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने धर्म और दर्शन का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

“सब जीवों पर दया करो, किसी जीव की हिंसा न करो, सत्य बोलो, असत्य मत बोलो, आदि विधि और निषेध रूप आचार का नाम धर्म है। किन्तु जब इसमें 'क्यों' का सवाल उठता है तो उसके उत्तर में कहा जाता है कि जीवों पर दया करना कर्तव्य है, गुण (अच्छा) है, पुण्य है और इससे सुख मिलता है, किन्तु जीवों की हिंसा करना अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख मिलता है; इसी तरह सत्य बोलना कर्तव्य है, गुण है, पुण्य है और उससे सुख मिलता है; परन्तु असत्य बोलना अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख प्राप्त होता है। इस प्रकार के विचार दर्शन कहे जाते हैं।”⁶

2. पं. दौलतराम, छहढाला, मंगलाचरण

3. पं. दौलतराम, देवस्तुति (देखो— दौलत-विलास, पृष्ठ 27)

4. कविवर मंगतराय, बारह भावना, मंगलाचरण

5. सम्पादक— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक— पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.)

6. जैन न्याय की भूमिका, पृष्ठ 8

तात्पर्य यह है कि धर्म तो सीधे-सीधे विधि-निषेध का उपदेश देता है, किन्तु दर्शन उस विधि-निषेध की अनेक तर्कों या प्रमाणों द्वारा भली-भाँति परीक्षा करता है, हमें सयुक्ति समझाता है कि वैसा ही विधि-निषेध क्यों समीचीन है, उससे भिन्न या विपरीत क्यों नहीं।

इस प्रकार धर्म को ठोस आधार देने का काम दर्शन करता है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि धर्म की अनेक प्रमाणों द्वारा युक्तिसंगत परीक्षा करना ही तो दर्शन है। दर्शनशास्त्र का उद्भव ही वस्तुतः इसलिए हुआ प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट धर्म की पूर्णतः निष्पक्ष होकर सप्रमाण परीक्षा की जाए। स्पष्ट है कि यही कार्य आधुनिक विज्ञान का भी है, वह भी निर्दिष्ट विषय की पूर्णतः निष्पक्ष होकर सप्रमाण परीक्षा करता है। यही कारण है कि हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि दर्शन और विज्ञान में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, दोनों वस्तुतः एक ही हैं।^१

इस प्रकार यदि देखा जाए तो दर्शन और विज्ञान दोनों पर्यायवाची

7. ज्ञातव्य है कि दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत प्रमाणशास्त्र या न्यायशास्त्र भी आता है जिस पर दार्शनिकों ने स्वतन्त्र रूप से हजारों ग्रन्थ लिखे हैं और वे सभी मनुष्य को भलीभाँति परीक्षा करना ही सिखाते हैं।
8. (क) “वास्तव में दर्शन और विज्ञान में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों की उत्पत्ति जिज्ञासा से, विश्व को समझने की चेष्टा से होती है। दोनों का उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना है।... वस्तुतः दर्शन और विज्ञान में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दर्शन के कुछ अभावों की पूर्ति विज्ञान करता है और विज्ञान के कुछ अभावों की पूर्ति दर्शन। अतः विज्ञान की प्रगति का प्रभाव दर्शन पर और दर्शन की प्रगति का प्रभाव विज्ञान पर पड़ना स्वाभाविक है। अन्य शब्दों में ये एक-दूसरे की समीक्षा करके प्रगति का साधन प्रस्तुत करते हैं।”

—डॉ. अर्जुन मिश्र, दर्शन की मूल धाराएँ, पृष्ठ 41-44

(ख) “दर्शन और विज्ञान सहोदर हैं। चिन्तन की ऊहापोहात्मक प्रणाली दोनों का आधार है, अतः इन दोनों का स्वरूप भी भिन्न नहीं है। इन दोनों का प्रयोजन भी एक ही है अन्वेषण।”

—पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ, मनीषी, पृष्ठ 157

(ग) “दर्शनशास्त्र का विषय है— चित् अचित् रूप इस अखिल विश्व की जटिल व्यवस्था का अनुशीलन करके उसमें से अनेक उपयोगी तथ्यों की खोज निकालना; इसलिए दर्शनशास्त्र भी एक विज्ञान है आज के भौतिक विज्ञानवत्।”

—जिनेन्द्र वर्णी (प्राकृत-विद्या, अप्रैल-दिसम्बर 2008, पृष्ठ 27)

हैं, एक ही विधा के दो नाम हैं, उनमें प्रकृतिगत कोई अन्तर नहीं है। अतः हमेशा हर बात को मात्र आधुनिक विज्ञान द्वारा समर्थित होने पर ही स्वीकार करने का आग्रह रखना उचित नहीं है।⁹ अपितु सर्वत्र तार्किकता या युक्तिसंगतता को ही विशेष महत्त्व देना उचित है, क्योंकि वही हमें अज्ञानता या अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कराने में समर्थ है।

दर्शन और विज्ञान में इस प्रकार कोई मौलिक अन्तर न होते हुए भी, आधुनिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र में आज बड़ा अन्तर देखने में आता है। एक तो स्पष्ट अन्तर यह आ गया है कि आधुनिक विज्ञान मात्र मूर्तिक पदार्थों के विषय में ही अध्ययन-अनुसन्धान करता है, किन्तु दर्शनशास्त्र मानता है कि इस जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं— 1. मूर्तिक और 2. अमूर्तिक। तथा वह इन दोनों का ही अध्ययन प्रस्तुत करना अपना परम कर्तव्य समझता है। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों ही प्रकार के पदार्थों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है।

दर्शनशास्त्र का मानना है कि जब जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं— मूर्तिक और अमूर्तिक, तब दोनों का ही तो अध्ययन करना आवश्यक है, उनमें से किसी भी एक को छोड़ा कैसे जा सकता है? तथा यदि छोड़ दिया जाए तो वह अध्ययन अपूर्ण अध्ययन कैसे नहीं माना जाएगा?

यदि कोई कहे कि अमूर्तिक पदार्थ (आत्मादि अप्रत्यक्ष पदार्थ) हमारी पकड़ में ही नहीं आते, हमें बिल्कुल ही प्रत्यक्ष नहीं होते, तो हम उनका वैज्ञानिक (निष्पक्ष एवं प्रामाणिक) अध्ययन कैसे कर सकते हैं? तो उसका उत्तर दर्शनशास्त्र यह देता है कि मात्र प्रत्यक्ष से ही निर्णय करने का आग्रह रखना संकीर्णता है। हर वस्तु का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से ही नहीं होता, बहुत-

9. “यह विचारधारा कि विज्ञान प्रकृति के सभी रहस्यों को उद्घाटित करने में सक्षम है, एकांगी है।...(धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक हैं, दोनों एक-दूसरे की सहायता करते हैं और दोनों का ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करा सकता है।)”

—नारायणलाल कछारा, जैनधर्म में विज्ञान, आमुख, पृष्ठ 8

सी बातों का निर्णय हम लोक में भी अनुमानादि के द्वारा करते ही हैं। अनुमानादि द्वारा ज्ञात पदार्थ भी प्रत्यक्षादि की भाँति असन्दिग्ध तथा समीचीन सिद्ध होते हैं। तथा जिस वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है, उसका किया ही क्या जा सकता है? यह तो नहीं किया जा सकता कि हमें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती तो उसका अभाव ही मान लिया जाए, क्योंकि तब तो फिर हमें अपने प्रपितामहादि अनेक सद्भावरूप वस्तुओं को भी अभावरूप मानना पड़ेगा, जो अवैज्ञानिक (मिथ्याज्ञान) ही होगा।

अतः जिस वस्तु की परीक्षा जिस विधि (प्रमाण) से सम्भव हो, वही विधि हमें उसकी परीक्षा हेतु अपनानी चाहिए। एक ही विधि से सबकी परीक्षा का आग्रह रखना वैज्ञानिक (समीचीन) नहीं कहा जा सकता। स्वर्ण को शुद्ध करने की विधि अलग होती है और वस्त्र को शुद्ध करने की अलग। दोनों को एक ही विधि से शुद्ध करने का आग्रह वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

वैसे तो विज्ञान भी स्वयं यह नहीं कहता कि मैं मात्र मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अध्ययन करूँगा, अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में नहीं करूँगा, किन्तु यह उसकी मजबूरी/दुर्बलता है कि वह अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में ठीक से अध्ययन नहीं कर पा रहा है; यद्यपि वह कोशिश बहुत कर रहा है, सम्भव है कि भविष्य में किसी-न-किसी प्रकार से सफलता प्राप्त कर सकेगा।

वर्तमान में भी विज्ञान की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ अमूर्तिक वस्तुओं का अध्ययन कर रही हैं। जैसे— मनोविज्ञान और जीवविज्ञान— ये दोनों विज्ञान की ही शाखाएँ हैं और बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं। ये दोनों प्राणियों की विविध मनोदशाओं और जैविक क्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत कर रही हैं, जो अमूर्तिक चैतन्य का ही अध्ययन है।

अतः सर्वथा यह समझना भी मिथ्या ही है कि आधुनिक विज्ञान मात्र मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अध्ययन करता है, अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में अध्ययन नहीं करता है। अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में भी वह यथासम्भव कोशिश करता ही है; परन्तु कुछ तो अभी उसमें भी अनेक कमियाँ हैं और कुछ उसके निष्कर्ष भी अधिक लोगों तक पहुँच नहीं

पा रहे हैं, अतः उस ओर थोड़ा ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि आधुनिक विज्ञान मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अधिक अध्ययन करता है।

आधुनिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र में बड़ा भारी अन्तर लोगों को इसलिए भी लगता है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान तो प्रायः मूर्तिक (भौतिक) वस्तुओं के अध्ययन में ही डूबा हुआ है, जबकि दर्शनशास्त्र कहता है कि हमें अपने वास्तविक हित हेतु अमूर्तिक वस्तुओं— विशेषतः आत्मा, परमात्मा आदि— के ज्ञान पर अधिक ध्यान देना चाहिए, मात्र मूर्तिक (भौतिक) वस्तुओं के ज्ञान में ही सारा समय व्यतीत करना बुद्धिमानी नहीं। जीवन छोटा है और ज्ञान का कोई अन्त नहीं है, अतः हमें वही शीघ्र सीख लेना चाहिए जिससे जन्म-मरण आदि दुःखों का विनाश हो।¹⁰

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप

हमारा प्रकरण यहाँ आधुनिक विज्ञान के मत में आत्मा और परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट करना है। ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा और परमात्मा भी अमूर्तिक या अभौतिक (Non-matter) वस्तुएँ हैं जो किसी भी भौतिक उपकरण द्वारा पकड़ में आनेवाली नहीं हैं, अतः आधुनिक विज्ञान उन्हें परखनली आदि में रखकर तो हमें नहीं दिखा सकता है, किन्तु ऐसे अनेक वैज्ञानिक तथ्य अवश्य प्रस्तुत करता है जिनसे आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व और स्वरूप पर विशद प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम उन्हीं तथ्यों के आधार पर अपनी बात संक्षेप में कहने का प्रयास करेंगे।

आत्मा और परमात्मा भारतीय दर्शनों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है और इसलिए भारतीय जन-जीवन में प्रारम्भ से लेकर आज तक निरन्तर अत्यधिक चर्चित रहता आया है। बालक से लेकर वृद्ध तक और राजा

10. “अतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।

तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि॥”

अर्थ— शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय थोड़ा है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः केवल वही सीखना चाहिए जो जन्म-मरण का क्षय करे।

से लेकर रंक तक सभी लोग यहाँ सदैव आत्मा और परमात्मा की चर्चा करते रहते हैं। अतः आधुनिक विज्ञान ने भी इन विषयों पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने का अनेक बार प्रयास किया है। यह बात अलग है कि वह अभी तक इनके सम्बन्ध में अपने कोई स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर पाया है, किन्तु इन विषयों की उसने उपेक्षा की हो अथवा इनकी ओर कभी कोई ध्यान ही नहीं दिया हो— ऐसा नहीं है।¹¹

तथा अनेक घटनाओं और प्रयोगों के आधार पर वह इनके अस्तित्व की सम्भावना भी प्रकट कर चुका है। भले ही वह इनके स्वरूपादि को स्पष्टतया सिद्ध नहीं कर पा रहा हो, किन्तु अनेक जैविक क्रियाओं और मनोभावों के आधार पर वह यह भी सशक्त सम्भावना प्रस्तुत करता है कि इस शरीर में आत्मा जैसा कोई अन्य तत्त्व अवश्य ही होना चाहिए, अन्यथा जीवित और मृत शरीर में और क्या अन्तर हो सकता है। जिस प्रकार हमें लगता है कि हम चश्मा आदि उपकरणों से देख रहे हैं किन्तु वस्तुतः चश्मा आदि से नहीं, आँख से देख रहे होते हैं, उसी प्रकार हमें लगता है कि हम आँख से देख रहे हैं किन्तु वस्तुतः आँख से भी नहीं, किसी अन्य ज्ञान तत्त्व से देख रहे होते हैं, जो मृत्यु हो जाने पर शरीर से निकल जाता है। यदि आँख ही देखती हो तो मृत शरीर क्यों नहीं देखता, अतः सिद्ध होता है कि आँख तो चश्मा आदि के समान बाह्य निमित्त

11. (क) विगत शताब्दी के विख्यात वैज्ञानिक आइंस हेन (Eins Hen) की अन्तिम अभिलाषा देखिये— “ ‘I have searched till the matter only. I desire that if there is rebirth, I will wish to know about myself, The knower.’ He also felt the necessity of synchronizing science with spirituality. He feels that science is necessary but it is not the necessity, because without peace and tranquility, all is in vain.”

—Jain Journal, Kolkata, January 2008, Page 152

(ख) “मैंने अपनी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की सारी जिन्दगी में पिताजी की (आध्यात्मिक) बातों का अनुसरण करने की कोशिश की है। मैंने बुनियादी सत्यों (धर्म, दर्शन, अध्यात्म की बातों) को समझने का भरसक प्रयास किया है जिन्हें पिताजी ने मेरे सामने रखा।”

—डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम, अग्नि की उड़ान, पृष्ठ 23

मात्र है, मूल कारण कोई अन्य ज्ञान तत्त्व है। यह अन्य ज्ञान तत्त्व ही दर्शन-ग्रन्थों में 'आत्मा' या 'जीव' कहा गया है।

आँख की देखना क्रिया की भाँति सारे ही शरीर की सुनना, सूँघना आदि सभी सैंकड़ों जैविक क्रियाएँ जिस तत्त्व के रहने पर चलती रहती हैं और जिसके न रहने पर (शरीर से बाहर निकल जाने पर, मृत्यु हो जाने पर) नहीं चलती हैं, रुक जाती हैं, वह अन्य चैतन्य तत्त्व ही 'आत्मा' होना चाहिए।

आत्मा शरीर से भिन्न एक अलग स्वतन्त्र तत्त्व है— इसे डॉ. अनिल कुमार जैन ने निम्नलिखित तीन वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा सशक्त रूप से इस प्रकार सिद्ध किया है—

“1. पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ— पृथ्वी पहले तपता हुआ आग का गोला था। इसके पर्याप्त शीतल हो जाने पर अनुकूल वातावरण में कई प्रकार के जटिल प्रोटीन बनने लगे। इन जटिल प्रोटीनों के संघटन से कोशिका का निर्माण हुआ और अमीबा जैसे सूक्ष्म जीव अस्तित्व में आये। कई वैज्ञानिकों का मत है कि जीव तत्त्व का निर्माण जटिल रसायनों के संश्लेषण द्वारा नहीं हुआ है बल्कि यह किसी अन्य ग्रह से आया है। अन्य ग्रहों पर भी जीवन की पूर्ण सम्भावनाएँ हैं। यह जीव तत्त्व आत्मा ही है जो कि जड़ पदार्थों से निर्मित नहीं हो सकता है। जड़ पदार्थों से निर्मित तो मात्र शरीर है जिसका निर्माण पृथ्वी पर हुआ।

2. ब्रह्माण्ड का विस्तार— खगोल-वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड का निरन्तर विस्तार हो रहा है। इस बात को प्रयोगों द्वारा भी सिद्ध किया जा चुका है। वैज्ञानिकों का मत है कि ब्रह्माण्ड में संकुचन एवं विस्तरण होता रहता है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मात्र जड़ तत्त्व से ही निर्मित होता तो इसमें एक स्थिरता होनी चाहिए, इसमें संकुचन-विस्तरण नहीं होना चाहिए। फिर यह विस्तार क्यों हो रहा है? यह इस बात की ओर इशारा करता है कि ब्रह्माण्ड मात्र जड़ पदार्थ से निर्मित नहीं है, बल्कि इसमें जड़ पदार्थ से भिन्न अन्य तत्त्व भी मौजूद है जिस पर भौतिकी के नियम लागू नहीं होते हैं। जड़ से भिन्न यह तत्त्व आत्मा हो सकता है।

3. अंग-प्रत्यारोपण— अंग-प्रत्यारोपण आज एक आम बात हो गई है। आँख, गुर्दा, हृदय आदि सभी अंग-प्रत्यंगों का प्रत्यारोपण किया जा सकता है। सैद्धान्तिक तौर पर मस्तिष्क का प्रत्यारोपण भी सम्भव है। किसी के शरीर से पूरे का पूरा खून निकाल कर किसी अन्य के खून को डाला जा सकता है। इन सबसे जुड़ी एक दिलचस्प बात यह है कि चाहे व्यक्ति के शरीर का पूरे का पूरा खून बदल दो, चाहे उसके गुर्दे, हृदय तथा मस्तिष्क को बदल दो; फिर भी यह व्यक्ति अपना वजूद, अपनी पहिचान बनाये रखता है। उसका चित्त पहले जैसा बना रहता है। अपने परिवारी जनों एवं मित्रों के प्रति उसका प्रेम, उसकी स्मरण-शक्ति यथावत् बनी रहती है। इससे सिद्ध होता है कि चाहे सारे अंग-प्रत्यंग बदल दिये जाएँ, चाहे पूरा खून बदल दिया जाए, फिर भी कुछ ऐसा अवश्य होता है जो व्यक्ति को अपनी मूल स्थिति से अलग नहीं होने देता है, उसे अपने पूर्व संस्कारों से युक्त बने रहने को बाध्य करता है। और निश्चित तौर पर यह चैतन्य युक्त आत्मा ही है।¹²

डॉ. जैन के उक्त तीनों ही तर्क बड़े ठोस हैं और गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने योग्य हैं।

इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत दो प्रकार के पदार्थों का निम्नलिखित वर्गीकरण भी जीव या आत्मा के अस्तित्व को अनिवार्यतः सिद्ध करता है—

1. सजीव पदार्थ (living thing)
2. निर्जीव पदार्थ (non-living thing)

इनके सम्बन्ध में भी डॉ. अनिल कुमार जैन ने ठीक ही लिखा है—

“अधिकतर लोगों को सजीव और निर्जीव की पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर वे आसानी से यह बता सकते हैं कि मक्खी, घोड़ा और पेड़ सजीव हैं जो वृद्धि और प्रजनन जैसी कुछ क्रियाओं को करते हैं। इस प्रकार जीव (सजीव) तथा निर्जीव (अजीव)

12. डॉ. अनिल कुमार जैन, जीवन क्या है (What is life), पृष्ठ 30-31

की पहचान तो की जा सकती है, लेकिन जीवन (life) क्या है— इसका सीधा उत्तर दे पाना कठिन है। जैव वैज्ञानिकों के पास जीव से सम्बन्धित विशद ज्ञान है, फिर भी वे जीवन को परिभाषित करने में कठिनाई महसूस करते हैं।¹³

वैज्ञानिक दृष्टि से जीव के लक्षणों का निरूपण करते हुए वे आगे और भी लिखते हैं—

“पृथ्वी पर अनेकों प्रकार के जीव पाये जाते हैं। अब तक बीस लाख से अधिक प्रजातियों को खोजा जा चुका है। वे सूक्ष्म बैक्टेरिया से लेकर विशालकाय व्हेल मछली तक के अनेक प्रकार में पायी जाती हैं। ये जीव विभिन्न प्रकार के वातावरण में पाये जा सकते हैं। इनमें से कुछ गर्मी से तपते रेगिस्तानों में भी मिल सकते हैं तथा कुछ अन्य बर्फीले ध्रुवों पर भी। जीवों के खान-पान तथा रहन-सहन में भी विविधता पायी जाती है। इसके बावजूद भी सभी जीवों में कुछ समानताएँ होती हैं तथा वे ही जीव के लक्षण भी निर्धारित करती हैं। प्रत्येक जीव में एक प्रकार का रसायन पाया जाता है जो कि एक ही प्रकार की रासायनिक क्रिया भी करता है। ये रसायन एक यूनिट (unit) में व्यवस्थित तरीके से रहते हैं जिसे कोशिका कहते हैं।

सभी जीवों में जो समान लक्षण पाये जाते हैं वे हैं— (1) प्रजनन (reproduction), (2) वृद्धि (growth) (3) चयापचय (metabolism), (4) हलन-चलन (movement), (5) संवेदन (responsiveness), (6) अनुकूलन (adaptation)। लेकिन कुछ जीव ऐसे भी हैं जिनमें ये सब पूर्णतः नहीं पाये जाते जबकि कुछ निर्जीवों में भी इनमें से कुछ गुण देखने को मिल जाते हैं। फिर भी ये गुण/लक्षण जीव की मूल प्रकृति को रेखांकित अवश्य करते हैं।¹⁴

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जीवविज्ञान (biology) और मनोविज्ञान (psychology) की प्रायः सभी खोजें कहीं-न-कहीं आत्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करती हैं तथा न केवल अस्तित्व को ही सिद्ध करती हैं,

13. डॉ. अनिल कुमार जैन, जीवन क्या है (What is life), पृष्ठ 11

14. डॉ. अनिल कुमार जैन, जीवन क्या है (What is life), पृष्ठ 11-12

उसके स्वरूप को भी कुछ-न-कुछ स्पष्ट करती हैं। मनोविज्ञान ने क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, प्रार्थना, याचना आदि मनोभावों का जो सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है, उससे भी आत्मा का ही स्वरूप स्पष्ट होता है।

जीवविज्ञान (biology) और मनोविज्ञान (psychology) की भाँति वनस्पति-विज्ञान (botany) की खोजें भी जीव या आत्मा के स्वरूप पर विशद प्रकाश डालती हैं। महान् वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बसु (1858-1937) ने तो स्पष्ट तौर पर अनेकानेक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधों में जीव होता है, क्योंकि उनमें चेतना पाई जाती है, वे जन्मते-मरते हैं, उनमें सुख-दुःख होता है, वे हँसते-रोते हैं, उन्हें भी शत्रु-मित्र की पहचान होती है, आदि। इस सम्बन्ध में विश्वविख्यात लेखक सर एल्डुअस हक्सले के विचार ज्ञातव्य हैं जो कि उन्होंने स्वयं सर जगदीशचन्द्र बसु की प्रयोगशाला की परखनलियों में देखकर प्रकट किये थे—

“वह (वनस्पति) हमारे समान ही सुखी-दुःखी, क्रोधी, मिलन-बिछोह पर हँसने-रोनेवाली, गानेवाली तथा स्वस्थ अथवा रोगी होती है। उस पर क्लोरोफॉर्म का प्रभाव, उसके हृदय की धड़कन, उस पर ऑक्सीजन का प्रभाव, विषैली औषधि के छिड़के जाने का दुष्प्रभाव, बिछोह की असह्य-यन्त्रणा आदि सभी दशाओं को साक्षात् देखकर हक्सले ने पुनः कहा— ‘किसी पशु-पक्षी की मृत्यु का दृश्य देखकर हम लोग मर्माहत हो जाते हैं, क्योंकि उसकी यन्त्रणा को अपनी आँखों से स्वयं देखते हैं किन्तु वनस्पतियों के जीवन-मरण को देखने के लिए तो हमारी दृष्टि लाखों गुनी तेज होनी चाहिए।’

उन्होंने आगे और कहा— ‘बसु महोदय की प्रयोगशाला में रखे गये यन्त्र हम लोगों को सूक्ष्मतम खूबियों के साथ वे सारी चीजें दिखा देते हैं, जो शक्तिशाली से शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र भी नहीं दिखा सकते। एक फूल जब जहर खाकर छटपटा-छटपटाकर हमारे सामने ही मरा, तब हम लोग उसी तरह करुणा से भर उठे, जैसे हम किसी अपने ही प्रियजन की मृत्यु को देखकर बेहाल हो जाते हैं। सचमुच ही यह एक अपूर्व अनुभूति थी, जिससे हम लोग आज तक अपरिचित थे।’ ...उन्होंने पुनः कहा कि ‘बहुत से प्रबुद्ध व्यक्तियों को मैंने कसाईखाने में वध किये जाते हुए पशु

की यन्त्रणा और तड़पना देखकर उससे द्रवित होते और उन्हें मांस-भोजी से पूर्ण निरामिष-भोजी बनते देखा है। यदि वे अपने आहार में और भी कमी करना चाहते हों तो उन्हें 'बसु-विज्ञान मन्दिर (कलकत्ता)' में जाकर देखना चाहिए। तब वे कदाचित् शाकाहार भी छोड़ने पर मजबूर हो जावें और सिर्फ धातुओं पर ही निर्भर रहने लगें।' ¹⁵

सर जगदीशचन्द्र बसु के बाद तो आधुनिक विज्ञान में पेड़-पौधों पर और भी अधिक खोजें हो चुकी हैं और वैज्ञानिक मान गये हैं कि पेड़-पौधों में भी स्पष्ट रूप से जैविक क्रियाएँ और जैविक भावनाएँ अनुभव की जा सकती हैं। कुछ पौधे ऐसे होते हैं जो मनुष्य के छूने से मुरझा जाते हैं अथवा खिल जाते हैं— यह उनकी जैविक भावना ही प्रकट करता है। इसी प्रकार अनेक पौधे ऐसे होते हैं जो दूसरे (आगन्तुक) जीवों को खा जाते हैं। जैसे— ड्योसेरा (Sundew), पिचर (Pitcher), वीनस (Venus) आदि पौधे अपने पास आनेवाले तितली आदि कीट-पतंगों को फिर जाने नहीं देते, उन्हें खा जाते हैं। यथा—



यह पिचर (Pitcher) का पौधा है। इसकी पत्तियाँ जग (jug) जैसी लगती हैं, जिनके ऊपर ढक्कन-सा भी होता है। जब कोई मक्खी इस पर आकर बैठती है तो यह उसे अन्दर बन्द करके खा जाता है।

15. प्रो. राजाराम जैन, अहिंसा एवं पर्यावरण-संरक्षण-सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत जैनधर्म, पृष्ठ 204



यह वीनस (Venus) का पौधा है। इसकी पत्तियाँ गदा-जैसी होती हैं, और उस पर लम्बे-लम्बे काँटे-जैसे बाल भी होते हैं। जब भी कोई कीट-पतंगा इस पर आकर बैठता है तो यह अपने उन बालों को और फैलाकर उसे जकड़ लेता है और उसका सारा रस सोखकर फेंक देता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पेड़-पौधों में भी जैविक भावनाएँ बहुत गहरी होती हैं। डॉ. अशोक जैन ने तो पेड़-पौधों में क्रोध, मान, माया, लोभ— इन चार कषायों और आहार, भय, मैथुन, परिग्रह— इन चार संज्ञाओं को भी बड़ी ही स्पष्टता से सिद्ध कर दिखाया है, जिनका सारांश इस प्रकार है—

“1. क्रोध— क्वींस और न्यू साउथ वेल्स के जंगलों में डंक मारने वाले वृक्ष होते हैं। इन वृक्षों पर नुकीले काँटे होते हैं और इनकी पत्तियाँ घने बालों से युक्त होती हैं। समीप जाने पर इनकी पत्तियाँ शरीर से चिपक जाती हैं और अपने रोएँ छोड़ देती हैं। यह क्रोध है।

2. मान— बरगद का वृक्ष अपनी डालियों से शाखाएँ निकालता है जो भूमि पर आकर तने और जड़ का रूप ले लेती हैं। उसका जरा-सा बीज इतना फैलाकर अपने अहं को पुष्ट करता मालूम होता है। यूकेलिप्टस वृक्ष की जड़ें इतना ज्यादा पानी अवशोषित करती हैं कि आसपास की वनस्पति का बढ़ना मुश्किल हो जाता है। यह वृक्ष बहुत

तेजी से बढ़कर 200-300 फुट ऊँचाई तक तनकर सीधा खड़ा रहता है। यह मान है।

3. माया— कीटभक्षी पौधे अपने रूप, रस, गन्ध से कीट-पतंगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और समीप आने पर उन्हें पकड़कर नष्ट कर देते हैं। यह माया है।

4. लोभ— वनस्पतियाँ अपना भोजन जमीन के भीतर अपनी जड़ों और तनों में संचित कर लेती हैं। यह लोभ है।

1. आहार— आहार संज्ञा वनस्पति में कई प्रकार की होती है। कुछ पौधे स्वयं-पोषी होते हैं जो अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। कुछ पौधे परजीवी होते हैं जो कि आंशिक रूप से या पूरी तरह से दूसरे पौधों पर निर्भर रहते हैं। अमरबेल एक ऐसी बेल है जो अपनी जड़ें दूसरे पौधे के तने में घुसाकर वहाँ से भोज्य सामग्री चूसती रहती है।

2. भय— जिस प्रकार विपत्ति आने पर जीव भयभीत होते हैं, उसी प्रकार वनस्पति भी विपत्ति की आशंका से भयभीत होकर काँपने लगती है। उसके रोएँ खड़े हो जाते हैं। छुईमुई के पौधे को छूने मात्र से उसकी पत्तियाँ भय से सिमट जाती हैं। 'जवागल' वनस्पति हथेली पर रखते ही काँपने लगती है। जिस प्रकार सभी जीव अपने जीवन की रक्षा के उपाय करते हैं, उसी प्रकार वनस्पति भी अपनी रक्षा के लिए उपाय करती है। काकतुरई अपनी दुर्गन्ध फेंक कर रक्षा करती है। नागफनी अपने काँटों के माध्यम से अपनी रक्षा करती है।

3. मैथुन— निम्नवर्गीय एककोशीय पौधों से लेकर विशालकाय वृक्षों तक में मैथुन अर्थात् काम-वासना की इच्छा देखने में आती है। मनुष्यों एवं अन्य जन्तुओं में मुख्यतया लैंगिक जनन ही होता है, परन्तु पौधों में वर्धी, अलैंगिक एवं लैंगिक तीन प्रकार से जनन माना गया है। वनस्पति में एक ही पौधे के अन्तर्गत नर व मादा का होना नपुंसक होने की सूचना है, जिनमें काम-वासना स्त्री-पुरुष से भी ज्यादा होती है।

4. परिग्रह— भोजन संचित करने की प्रवृत्ति मूली, गाजर, आलू, अदरक आदि पौधों में दृष्टिगोचर होती है जो अपनी जड़ों व तने में खाद्य

सामग्री एकत्रित कर लेते हैं। बंदगोभी, प्याज आदि अपनी पत्तियों में भोजन संगृहीत करते हैं। नागफनी आदि अपने तने में भोजन इकट्ठा किए रहते हैं।¹⁶

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान ने पेड़-पौधों में जीवत्व की सम्भावना ही वास्तविक नहीं की है, स्वीकृति भी स्पष्टतया कर ली है।

पेड़-पौधों की भाँति कुछ वर्ष पूर्व आचार्य विद्यानन्द मुनि ने भी अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अग्नि में जीवत्व की उपस्थिति सिद्ध की है, जिसका पूर्ण विवरण उनकी कृति 'अग्नि और जीवत्वशक्ति' में देखा जा सकता है। अति संक्षेप में उसका सार है कि अग्नि में भी जीव है, क्योंकि उसमें निम्न प्रकार के चेतन भाव पाये जाते हैं—

1. वह दूसरों को जलाती है— यह क्रोध है।
2. सदा ऊपर लौ रखती है— यह मान है।
3. राख के नीचे भी जलती रहती है— यह माया है।
4. कितना भी ईंधन मिले, तृप्त नहीं होती— यह लोभ है।
5. ऑक्सीजन मिलने पर ही रहती है— यह श्वासोच्छ्वास है।
6. तेल या ईंधन चाहिए— यह आहार है।
7. धुआँ आदि छोड़ती है— यह नीहार है।

इसी प्रकार अन्य चयापचय (metabolism), वृद्धि-हानि, जीवन-मरण की क्रियाएँ अग्नि में भी स्पष्टतया अनुभव में आती हैं, अतः वह सजीव है।

ज्ञातव्य है कि भारतीय दर्शनों में विशेषतया जैन दर्शन में अग्नि को भी गाय-भैंस-मनुष्यादि की भाँति सजीव (living thing) माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान भी किसी-न-किसी रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और न केवल अस्तित्व को ही स्वीकार करता है, उसके स्वरूप को भी बहुत स्पष्ट करता है जो बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि भारतीय-दर्शन-ग्रन्थों में बताया गया है। हाँ, इतना स्पष्ट भी नहीं कर पा रहा है कि भारतीय दर्शनों का एतद्विषयक

16. आस्था और अन्वेषण, पृष्ठ 109-110

विवाद भी शान्त हो सके। किन्तु ऐसा शायद सम्भव ही नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के समर्थकों ने आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध करने के लिए इसी प्रकार के और भी अनेकानेक प्रयोग और प्रयत्न पहले भी किये थे। जैसे—

1. समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाली पुनर्जन्म की घटनाओं को सूचीबद्ध करके उनकी सत्यता का अनुसन्धान करना।

2. मृत्यु से पूर्व ही गहन निरीक्षण प्रारम्भ कर देना कि मरते समय शरीर में से कौन बाहर निकलता है, कैसे निकलता है, कहाँ से निकलता है, आदि। अनेक बार मरनवाले प्राणी को वायुरोधक (Air-tight) पेटी में भी बन्द किया गया, ताकि देखा जा सके कि जीव कैसे बाहर निकलता है, पेटी टूटती है या नहीं। अनेक बार मरने से पहले और बाद में वजन तोला गया और यह भी कहा गया कि इस प्रकार आत्मा का वजन 21 ग्राम सिद्ध होता है।¹⁷

परन्तु ये सब प्रारम्भिक प्रयास हैं और नितान्त असफल सिद्ध हुए हैं। आज हमारा विज्ञान तब से बहुत आगे बढ़ गया है और आशा है कि आगे और भी उन्नति करेगा। आशा है कि तब हमें आत्मा के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक ज्ञानाधार भी प्राप्त हो सकेगा।

परमात्मा का स्वरूप

कहा जा चुका है कि 'परमात्मा' शब्द से यहाँ हमारा अभिप्राय उस भगवान्, ईश्वर, गॉड (GOD) या खुदा नामक उस परमतत्त्व से है जिसे विभिन्न हजारों नामों से प्रायः सभी धर्म-दर्शनों में पूज्य, आराध्य या उपास्य स्वीकार किया गया है।

आधुनिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले कुछ तथ्य तो फिर भी प्रस्तुत करता है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं; किन्तु परमात्मा या भगवान् के विषय में तो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि

17. सच्चे सुख का मार्ग, पृष्ठ 62

भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन

क्र.	दर्शन	दर्शन के अपरनाम	उपसम्प्रदाय	प्रवर्तक	विख्यात ग्रन्थ	प्रमुख सिद्धान्त	तत्त्व संख्या	भगवान्
1.	जैनदर्शन	अहंत् (आहंत) दर्शन, जिनदर्शन, त्रिगुण्यदर्शन, ऋषभदर्शन	1. दिगम्बर 2. श्वेताम्बर	ऋषभदेव	तत्त्वार्थसूत्र	अहिंसा, अतीन्द्रिय, अनेकान्तवाद, स्वाध्याय	सात - शीघ्र, अजीव, आत्म्य, चन्द्र, संवर, चिन्ता और मोक्ष	अनन्त है।
2.	बौद्धदर्शन	सौगत, तथागत	1. शीघ्रान्तिक 2. माध्यमिक 3. योगाचार 4. वैभाषिक	गौतम बुद्ध	त्रिपिटक	अहिंसकत्व, अज्ञानमोक्ष, प्रतीत्यसमुत्पाद, विज्ञानमय, सुखवाद, चतुर् आर्य सत्य, अहिंसा	75 - अणु 11, चित्त 46, चित्तविप्रसृक्त 14, अविद्यामि 1, आकाश 1, प्रतिसंख्याननिरोध 1, अप्रतिसंख्याननिरोध 2	यहाँ भगवान् (पहातम् बुद्ध को ही भगवान् मानते हैं।)
3.	पार्श्विकदर्शन	भौतिकवादी दर्शन, लोकायत दर्शन, बार्हस्पत्य दर्शन		बृहस्पति (बृहस्पति)	बृहस्पतिसूत्रम् (अनुसल्लभ्य)	जीवन का अन्तर्गत ऐहिक सुखों की प्राप्ति मात्र है, जो अन्तर्गत है, यही अन्तर्गत है।	चार - पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु	कुछ नहीं है (राज्य ही ईश्वर है।)
4.	सांख्यदर्शन	कपिल दर्शन	1. निरीश्वर, 2. ऐश्वर्य	कपिल मुनि	सांख्यसूत्रम्	तत्त्वों के अन्तर्गत रूप पर मुख्यतः दो जाती हैं, प्रकृति एवं पुरुष का रूप	25 - गुण 1, प्रकृति 1, प्रकृति के विचार 23	निरीश्वर सांख्य भगवान् की सत्ता नहीं मानते, ऐश्वर्य सांख्य मानते हैं।
5.	योगदर्शन	पातञ्जल दर्शन		महर्षि पातञ्जलि	पातञ्जलयोगसूत्रम्	योग साधन, अन्तर्गत, वैराग्य (मोक्ष) साधकत्व सम्पत्ति, अन्तर्गतता सम्पत्ति	26 - उपरिलिखित 25 तथा एक ईश्वर	पुरुष विशेष ईश्वर है
6.	न्यायदर्शन	अक्षपाद दर्शन	प्राचीन न्याय कृत्यान्वय	महर्षि अक्षपाद गौतम	न्यायसूत्रम्	आत्मनस्यत्व, पुरुषनस्यत्व, पुरुषार्थ लाभ, अन्तर्गतत्व, पुरुषनस्यत्व निःश्रेयस तथा पुरुषार्थ अन्तर्गतत्व निःश्रेयसोपाय	16 - अणु, प्रमेय, संज्ञय, प्रयोजन, दृष्टान्त, विज्ञान, अक्षय्य, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, विवर्ण्य, हेतुभाष्य, उल्ल, जालि, विवर्ण्यत्व	जगत् कर्ता ईश्वर है
7.	वैशेषिकदर्शन	औलूक्य दर्शन		महर्षि ऋषभदेव	वैशेषिकसूत्रम् (कणादसूत्रम्)	1. पञ्चभूत, 2. विशेष नामक पदार्थ 3. काल प्रक्रिया, 4. पञ्चभूतपौष्ट्यप्रक्रिया 5. विचारण विभाग, संप्रत्ययार्थ	6 - अणु, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समान्य एवं अक्षय्य	जगत् कर्ता ईश्वर है
8.	मीमांसा	जैमिनीय दर्शन (पूर्वमीमांसा दर्शन)	कुमारिल भट्ट, मुत्तारि (मिश्र) प्रभाकर (गुरु)	महर्षि जैमिनी	जैमिनीयसूत्रम्	1. प्रकृति कार्य-कारण मुख्य 2. कर्म अपना प्राप्त करने अपनी शक्ति से देते हैं।	6 - अणु, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, अज्ञान (भट्ट मत)	नहीं मानते
9.	वेदान्तदर्शन	उत्तरमीमांसा दर्शन, वेदान्त दर्शन	अद्वैत (शंकर), द्वैत (माध्व) विशिष्टाद्वैत (रामानुज) शुद्धाद्वैत (वल्लभ), अधिन्य - भेदाभेद (चैतन्य सम्प्रदाय)	ब्रह्मसूत्रम्	ब्रह्मसूत्रम्	सभी अन्तः एक हैं। एकत्व दृष्टि में ही अन्तः है।	1 - ब्रह्म	मानते हैं

सू.	आत्मा का अस्तित्व	आत्मा नित्य/अनित्य	आत्मा कितने	आत्मा कैसा	स्वर्ग-नरक	पुनर्जन्म	पुण्य-पाप	कर्म	कर्म फल	मोक्ष होता है?	मोक्ष का स्वरूप	मोक्ष साधन	सू.
	है	द्रव्य की अपेक्षा नित्य पर्याय की अपेक्षा अनित्य	अनेक-अनन्त	ज्ञानदर्शन स्वभावी	है	होता है	मानते हैं	है	देते हैं	होता है	सहज स्वरूप अनन्त सुखमय आत्मा की उपलब्धि	सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का समुदाय	नि.
	नहीं है (अनात्मवाद)	अनित्य (क्षणिक)	अनन्त	विज्ञानमेवात्मा	है	होता है	मानते हैं	होते हैं	देते हैं	होता है	अभावात्मक, तृष्णा का क्षय ही मोक्ष है।	अष्टांगिकमार्ग, सम्यग्दृष्टि आदि	सू.
	शरीर ही आत्मा है।	अनित्य	असंख्य (लेकिन शरीर ही आत्मा है)	शरीरमेवात्मा	नहीं है	नहीं होता	नहीं मानते	नहीं होते	नहीं देते	होता है (मृत्यु ही मोक्ष है)	मोक्ष है ही नहीं	मोक्ष होता ही नहीं	सू.
	है	कूटस्थ, नित्य	अनन्त	निष्क्रिय (चेतन)	है	होता है	मानते हैं	होते हैं	देते हैं	होता है	आत्मा का कैवल्य (केवलभाव) मुक्ति	विवेक ज्ञान	सू.
नित्य	है	कूटस्थ, नित्य	असंख्य	निष्क्रिय (चेतन)	है	होता है	मानते हैं	होते हैं	देते हैं	होता है	कैवल्य	ज्ञान की पराकाष्ठास्वरूप विराट् अवस्थाप्रज्ञा, असम्प्रज्ञात	सू.
	है	नित्य	आत्मा दो, जीवात्मा प्रतिशरीर भिन्न है।	विभु (नित्य) चेतन (निष्क्रिय)	होता है	होता है	मानते हैं	होते हैं	देते हैं	होता है	आत्मनिक दुःख निवृत्ति (21 दुःखों का नाश)	मोक्षार्थ पदार्थ का तत्त्वज्ञान	सू.
	है	नित्य	अनेक	विभु (नित्य) चेतन (निष्क्रिय)	होता है	होता है	मानते हैं	होते हैं	देते हैं	होता है	वह अवस्था जब आत्मा के सभी विशेष गुण नष्ट हो जायें	छः पदार्थों का यथार्थ ज्ञान	सू.
	है	नित्य	अनेक	-	होता है	होता है	मानते हैं	होते हैं	देते हैं	होता है (स्वर्ग ही मोक्ष है)	धर्म-अधर्म का नाश होने पर शरीर का नाश ही मोक्ष है।	मोक्ष का मुख्य कारण कर्म। सहकारी कारण आत्मज्ञान।	सू.
का सो- रूप है)	है	नित्य	एक	सच्चिदानन्द/नित्य विज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वरूप	होता है	होता है	मानते हैं	होते हैं	देते हैं	होता है	आप्तभावमोक्षः, भगवान् के सन्निध्य में रहना। सत्-चित्- -आनन्दावस्था	श्रवण-मनन-विदिष्यसन, योगमार्गानुसरण	सू.

आपके सुझाव सादर आमंत्रित हैं- डॉ. वीरसागर जैन, अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर

मुख का साधन	प्रमाण	प्रमाण संख्या	वेद प्रमाण है अथवा नहीं
निराकुलता	सम्यग्ज्ञान	दो- प्रत्यक्ष, परोक्ष	नहीं है
गुणा का त्याग	अविसंवादीज्ञान	दो- प्रत्यक्ष अनुमान	नहीं है
वैषय सेवन	चक्षुज्ञान	एक- प्रत्यक्ष प्रमाण	नहीं है
वैषय के साथ (व्यक्ताव्यक्त का) अनुकूल संयोग	प्रमाकरण	तीन- प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम	है
वैवेक ख्याति	प्रमाकरण	तीन- प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम	है
गुण्य	प्रमाकरण	चार- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द	है
वेद विहित कर्म करना	प्रमाकरण	दो- प्रत्यक्ष, अनुमान	प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त नहीं है।
धर्म	प्रमाकरण	छः- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव (भट्ट) अभाव को छोड़कर पांच (प्रभाकर)	है
आत्मज्ञान या मोक्ष	प्रमाकरण	छः- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि (अद्वैत) प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द (विशिष्टाद्वैत)	द्वैत-अद्वैत परम्परानुसार प्रमाण है। वेद भी अपरा विद्या है। साक्षात् अनुभव ही प्रमाण है।

से कुछ भी कहना सचमुच ही बहुत कठिन है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान को अभी तक ऐसे 'परमात्मा' के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की कोई सामग्री, प्रमाणादि उपलब्ध नहीं हुए हैं।

तथापि इस सम्बन्ध में भी कुछ एक-दो बातें इस प्रकार स्पष्टतया समझी जा सकती हैं—

परमात्मा, ईश्वर या भगवान् के सम्बन्ध में आज बहुसंख्यक लोगों की मान्यता है कि वह इस जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता है और कुछ लोगों के अनुसार उसे इसी अर्थ में 'GOD' (G = generator, O = operator, D = destroyer) कहा जाता है। ऐसे लोगों के अनुसार वह सर्वशक्तिमान है, कुछ भी कर सकता है, पलभर में राजा को रंक और रंक को राजा भी बना देता है, मूर्ख को विद्वान् और विद्वान् को मूर्ख भी बना सकता है। सम्पूर्ण जगत् का कण-कण उसी की इच्छानुसार परिणमन करता है। वही एक सबका भला-बुरा करनेवाला है, सबको सुख-दुःख की सामग्री देनेवाला है अथवा जैसा चाहे वैसा करनेवाला है, इत्यादि।

किन्तु आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से ऐसा कोई भी ईश्वर या भगवान् सम्भव नहीं है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् एक निश्चित कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुसार संचालित है, उसमें किसी अन्य की कोई आवश्यकता नहीं है। तथा उस कारण-कार्य-व्यवस्था के विरुद्ध कुछ भी उल्टा-सीधा कार्य कभी भी कोई नहीं कर सकता है। कभी-कभी हमें अपनी अल्पज्ञता से ऐसा प्रतीत अवश्य हो सकता है, परन्तु वास्तव में उल्टा-सीधा यहाँ न कुछ होता है और न ही कथमपि हो सकता है। उदाहरणार्थ— अग्नि के ऊपर बर्तन में पानी रखा जाएगा, तो वह स्वयमेव गर्म होगा, उसे कोई अन्य ईश्वरादि गर्म नहीं करेगा। तथा जैसे खेत में यदि गेहूँ बोया जाएगा तो गेहूँ ही उगेगा, चना नहीं और यदि चना बोया जाएगा तो चना ही उगेगा, गेहूँ नहीं; उसी प्रकार सृष्टि के समस्त कार्य अपनी-अपनी सुनिश्चित कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुसार स्वयमेव संचालित हो रहे हैं, उन्हें कोई ईश्वर या परमात्मा संचालित करनेवाला नहीं है। तथा उन कार्यों को कभी कोई ईश्वर उल्टा-सीधा भी परिणमन नहीं कर सकता है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो अग्नि पर रखा दूध बर्फ बन जाएगा और फ्रिज (fridge) में

रखा दूध उबल जाएगा। अथवा गेहूँ बोने पर चना उग जाएगा और चना बोने पर गेहूँ उग जाएगा; जैसा कि कभी नहीं होता, कभी नहीं हो सकता।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व में वस्तुतः जितने पदार्थ प्रारम्भ से थे, उतने ही आज हैं और भविष्य में भी अनन्त काल तक उतने ही रहेंगे; उनमें से कभी भी किसी भी पदार्थ को मूलतः न तो पैदा किया जा सकता है और न ही सर्वथा नष्ट किया जा सकता है मात्र पदार्थों का अवस्था-परिवर्तन होता है (Nothing can be produced or destroyed, It's form only changes), अतः इस वैज्ञानिक दृष्टि से भी जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता कोई ईश्वर आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार सब जीवों का सुखी-दुःखी होना भी अपने-अपने कर्मों और भावों पर निर्भर करता है। उसमें भी किसी ईश्वर जैसे अन्य तत्त्व की कोई आवश्यकता नहीं है। स्तुति से प्रसन्न होकर भला करनेवाला और निन्दा से नाराज होकर बुरा करनेवाला ईश्वर वैज्ञानिक दृष्टि से भी न्यायसम्पन्न परमपूज्य सिद्ध नहीं होता है।

ज्ञातव्य है कि सांख्य, मीमांसा आदि अनेक प्राचीन दर्शनों में भी ईश्वर या परमात्मा को आरम्भतः जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं माना गया है और इस प्रकार की धारणा बहुत परवर्ती है और किसी प्रकार के ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं है।

इस तथ्य को अनेक विद्वानों ने सिद्ध भी किया है जिनमें डॉ. याकूब मसीह की पुस्तक 'निरीश्वरवादः भारतीय एवं पाश्चात्य' विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भले ही हमें यह नहीं बता पा रहा कि ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है, आदि; किन्तु इतना अवश्य सिद्ध कर रहा है कि वह रागी-द्वेषी और जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि इस प्रकार की मिथ्या धारणा से मुक्ति दिलाकर भी आधुनिक विज्ञान ने हम पर बड़ा उपकार किया है।

□□□

आध्यात्मिक सूक्तियाँ

1. अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते। —यजुर्वेद 40/14
विद्या (आत्मज्ञान) से ही अविद्या (आत्मभ्रान्ति)-जन्य मृत्यु को पार करके
अमृत का पान किया जा सकता है।
2. तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः। —अथर्ववेद 10/8/44
वही विद्वान् है जो मृत्यु से नहीं डरता।
3. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति।
—वृहदारण्यकोपनिषद् 7/1/3
अरे, यह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और ध्यान करने योग्य है।
इस आत्मा के दर्शन, श्रवण और ज्ञान से ही सब-कुछ ज्ञात हो जाता है।
4. यस्तद् न वेद, किम् ऋचा करिष्यति। —वृहदारण्यकोपनिषद् 3/5
जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसका ऋचाएँ (वेद-मन्त्र) भी क्या भला
करेंगी?
5. तरति शोकमात्मवित्। —छान्दोग्योपनिषद् 7/1/3
आत्मज्ञानी शोक (दुःख-समुद्र) से पार हो जाता है।
6. अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठादात्मा पुरस्ताद् आत्मा
दक्षिणतः आत्मोत्तरतः आत्मैवेदं सर्वमिति।
—छान्दोग्योपनिषद् 7/25/2
आत्म-जिज्ञासा के उपरान्त साधक जीव आत्मा ही होता हुआ नीचे, ऊपर,
आगे, पीछे, दायें-बायें सर्वत्र आत्मा ही आत्मा देखता है।
7. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। —मुण्डकोपनिषद् 3/2/9
ब्रह्म (आत्मा/परमात्मा) को जानने वाला स्वयं भी ब्रह्म ही हो जाता है।
8. कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्। —कठोपनिषद् 2/1/1
कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

9. अहं ब्रह्मास्मि। —वृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/10
मैं ब्रह्म (आत्मा/शुद्धात्मा) हूँ।
10. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। —मुण्डकोपनिषद् 3/2/4
यह आत्मा बलहीन व्यक्तियों द्वारा प्राप्य नहीं है।
11. यो आत्मविद् स सर्वविद्।
जिसने आत्मा को जाना, उसने सब कुछ जान लिया।
12. सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद् ह्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ —मनुस्मृति 12/85
सर्व विद्याओं में एक आत्मज्ञान को ही सबसे प्रमुख और उत्कृष्ट माना गया है, क्योंकि उसी से अमृत की प्राप्ति होती है।
13. द्रव्याचारदयाहिंसायज्ञस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति
द्रव्याचार, दया, अहिंसा, यज्ञ, स्वाध्याय आदि सभी कर्मों में एक ही परमधर्म है— ध्यानयोग के द्वारा आत्मदर्शन।
14. कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया तु प्रमुच्यते।
—महाभारत, शान्तिपर्व 840/7
जीव कर्म से बँधता है और विद्या (आत्मज्ञान) से मुक्त होता है।
15. उद्धरेदात्मनाऽत्मानमात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ —भगवद्गीता 6/5
आत्मा ही आत्मा का उद्धार करता है और आत्मा ही आत्मा का पतन करता है, अतः वास्तव में आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।
16. दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्?
जाताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किम्?
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किम्?
कल्पस्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्? —वैराग्यशतक 3/38
शत्रुओं के सिर पर पैर रख दिया तो भी क्या हुआ? सारी कामनाएँ पूर्ण कर देने जितनी लक्ष्मी प्राप्त कर ली तो भी क्या हुआ? यदि प्रियजनों को वैभव द्वारा तृप्त कर दिया तो भी क्या हुआ? कल्पान्त तक रहनेवाला शरीर पा लिया तो उससे भी क्या हुआ? अर्थात् जगत् की सर्व उपलब्धियाँ असार हैं, एक आत्मज्ञान की उपलब्धि ही सारभूत है।

17. त्यजेदेकं कुलस्यार्थं, ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत्।

त्यजेत् ग्रामञ्च राष्ट्रार्थं, आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्॥

कुल के हितार्थ एक की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए, ग्राम के हितार्थ कुल की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए, राष्ट्र के हितार्थ ग्राम की भी चिन्ता छोड़ देनी चाहिए और आत्मा के हितार्थ तो सम्पूर्ण पृथिवी की ही चिन्ता छोड़ देनी चाहिए।

18. नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा

प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।

शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-

मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥ —श्रीमद्भागवत 11/3/36

आत्मा के पास मन भी जाता; वाणी, चक्षु, बुद्धि और इन्द्रियाँ भी नहीं। शब्द भी केवल निषेधवृत्ति से ही आत्मा को उपलक्षित कर सकता है।

19. पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि।

—आचारांग 1/3/3

हे पुरुष! तुम स्वयं ही तुम्हारे सच्चे मित्र हो। बाहर में अन्य मित्र को क्यों खोजते हो?

20. अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ।

—उत्तराध्ययन 20/37

सुप्रयुक्त और दुःप्रयुक्त होता हुआ यह आत्मा स्वयं ही अपना क्रमशः मित्र और अमित्र दोनों है।

21. जो पस्सदि अप्पाणं... पस्सदि जिणसासणं सव्वं।

—समयसार, 15

जो आत्मा को देख लेता है, समझो उसने सर्व जिनशासन देख लिया।

22. भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्ध णिम्मलं चेव।

लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं॥ —भावपाहुड, 60

यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति-दुखों को छोड़कर शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहते हो तो शुद्धभावों से इस निर्मल विशुद्ध आत्मा की सदा भावना करो।

23. एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

—नियमसार, 102

मैं एक शाश्वत ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला आत्मा ही हूँ। उसके अतिरिक्त सर्व संयोगी भाव मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

24. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी।

णत्थि मम अण्ण किंचि वि परमाणुमित्तं पि॥

—समयसार, 38

मैं सदा एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, अरूपी आत्मा हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

25. अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।

तं णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि॥

शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय थोड़ा है और हम मन्दबुद्धि हैं, अतः मात्र वही सीख लेना चाहिए जो जन्म-मरण का क्षय करे।

26. आदहिदं कादव्वं जदि सक्कदि परहिदं पि कादव्वं।

आदहिद परहिदादो आदहिदं सुदटु कादव्वं॥

—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1/415

आत्महित करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो परहित भी करना चाहिए। किन्तु आत्महित और परहित— इन दोनों में से चुनना हो तो एक आत्महित ही भलीभाँति करना चाहिए।

27. तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।

येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत्॥

—समाधितन्त्र, 53

वही बोलना चाहिए, वही पूछना चाहिए, उसी की इच्छा करनी चाहिए और उसी में तत्पर होना चाहिए, जिससे अविद्या का विनाश हो और आत्मा विद्यामय बन जाए।

28. आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।

कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः॥

—समाधितन्त्र, 50

आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्य बुद्धि में देर तक नहीं धारण करना चाहिए, अपितु अन्य कार्यों को तो प्रयोजनवश अतत्पर भाव से ही थोड़ा करना चाहिए।

29. दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे।

स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥

—इष्टोपदेश, 9

जिसप्रकार दिशा-दिशा से पक्षी आकर एक वृक्ष पर रुकते हैं और फिर चले जाते हैं, वैसी ही स्थिति कुटुम्बी जनों की है। परमार्थतः कोई किसी का नहीं है।

30. बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥

—इष्टोपदेश, 26

समम जीव बँधता है और निर्मम जीव मुक्त होता है, अतः सर्व प्रयत्नपूर्वक निर्ममत्व की साधना करनी चाहिए।

31. न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
 नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥ —इष्टोपदेश, 9
 मेरी मृत्यु ही नहीं होती, किसका भय है? मुझे व्याधि ही नहीं होती, किसका दुःख है? मैं तो वस्तुतः बाल, वृद्ध, युवा भी नहीं; क्योंकि ये सब पुद्गल की अवस्थाएँ हैं।
32. सत्थ पढंतहं ते वि जड, अप्पा जे ण मुणंति ।
 तहिं कारणि ए जीव फुडु, ण हु णिव्वाणु लहंति ॥ —योगसार, 53
 जो जीव शास्त्रों को पढ़ते हुए भी आत्मा को नहीं जानते, वे जड़ (मूर्ख, अज्ञानी) हैं और इसीलिए उन्हें कथमपि निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती।
33. अप्पा दंसणु णाणु मुणि, अप्पा चरणु वियाणि ।
 अप्पा संजमु सील तउ, अप्पा पच्चक्खाणि ॥ —योगसार, 81
 आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है आत्मा ही चारित्र्य है, आत्मा ही संयम है, आत्मा ही शील है, आत्मा ही तप है और आत्मा ही प्रत्याख्यान भी है। इसे अच्छी तरह जानो।
34. सो सिऊ संकरु विण्हु सो, सो रुद्धु वि सो बुद्धु ।
 सो जिणु ईसरु बंधु सो, सो अणंतु सो सिद्धु ॥ —योगसार, 105
 निश्चय से आत्मा ही शिव है, आत्मा ही शंकर है, आत्मा ही विष्णु है, आत्मा ही रुद्र है, आत्मा ही बुद्ध है, आत्मा ही जिन है, आत्मा ही ईश्वर है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही अनन्त है और आत्मा ही सिद्ध भी है।
35. आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम् ।
 अशेषशास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥ —योगसारप्राभृत 7/43
 विद्वत्ता का श्रेष्ठ फल तो वास्तव में आत्मध्यान में रति ही है। अन्यथा सर्वशास्त्रों के शास्तृत्व (पाण्डित्य) को भी विद्वानों ने संसार ही कहा है।
36. तदैवेकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः ।
 रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥ —पद्मनन्दि-पंचविंशति, 350
 सर्वशास्त्र-समुद्र के रमणीय रत्नों में एक आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट रत्न है जो हमारे-आपके सबके सामने रखा हुआ है।
37. नमस्यं च तदैवेकं तदैवेकं च मंगलम् ।
 उत्तमं च तदैवेकं तदेव शरणं सताम् ॥ —पद्मनन्दि-पंचविंशति, 347
 एक आत्मा ही नमस्कार करने योग्य है। आत्मा ही मंगल है, आत्मा ही उत्तम और आत्मा ही शरण है।

38. अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवः, चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥

—समयसार-कलश, 144

आत्मा अचिन्त्यशक्ति-सम्पन्न, स्वयमेव प्रकाशमान चैतन्य-चिन्तामणि है, जिससे सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, अतः ज्ञानी किसी भी अन्य परिग्रह को नहीं चाहता।

39. आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्?

परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥" —समयसार-कलश, 62

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है, परमार्थतः वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता। आत्मा परभावों का कर्ता है— ऐसा कहना व्यवहारी जनों का मोह मात्र है।

40. इतो न किञ्चित् ततो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्य पश्यामि ततो न किञ्चित्, स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित्॥
यहाँ भी कुछ नहीं है, वहाँ भी कुछ नहीं है; जहाँ कहीं भी जाओ, वहीं कुछ नहीं है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करके देखा जाए तो आत्मज्ञान से अधिक (श्रेष्ठ) जगत् कहीं भी कुछ भी नहीं है।

41. बुद्धेः फलमात्महितप्रवृत्तिः।

बुद्धि का फल तो एक यही है कि आत्महित में प्रवृत्ति की जाए।

42. आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

जो सभी जीवों को अपने समान देखता है वही पण्डित है।

43. सदानन्दमयं जीवं यः पश्यति स पण्डितः।

जो सदा आनन्दमय आत्मा को देखता है वही पण्डित है।

44. न हि ज्ञानेन सदृशं किञ्चित् पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञान के समान पवित्र वस्तु विश्व में अन्य कोई नहीं है। —भगवद्गीता

45. तत् ज्ञानं यत् प्रतिसमयमानन्दायते।

ज्ञान वही है जो प्रतिसमय आनन्द प्रदान करे।

46. न हि विषादो विधेयात्र तद्धि वैदुष्यजं फलम्।

कभी भी विषाद न हो— यही विद्वत्ता का सच्चा फल है। —पाण्डवपुराण

47. अनुभव चिन्तामणि रत्न, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोक्षस्वरूप ॥ —समयसार नाटक
आत्मानुभूति चिन्तामणि रत्न के समान है, रस (सुख) का अक्षय भण्डार
है, मोक्ष का मार्ग है और मोक्षस्वरूप ही है।
48. लाख बात की बात यहै, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद फंद, निज आतम ध्याओ ॥ —छहढाला, 4/9
49. कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवानी उचरो है।
'दौल' ध्याय अपने आतम को, मुक्तिरमा तोहि वेगि वरो है ॥
—छहढाला, 4/9
50. अपनी सुधि भूलि आप आप दुख उपायो।
ज्यों शुक नभचाल विसरि नलिनी लटकायो ॥ —दौलत-विलास, 87
51. आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार-ध्यान ॥ —आत्मसिद्धि
52. सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं।
यातें हुआ कंगाल, गाँठ खोल देखी नहीं ॥
53. अरे सुधारक जगत के, चिन्ता मत कर बार।
तेरा मन ही जगत् है, पहले इसे सुधार ॥
54. आत्मबलं बलं, परबलं दुर्बलम्— अपना हाथ जगन्नाथ।
55. हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता-द्रष्टा आतमराम। —आत्मकीर्तन

जैन दर्शन नास्तिक नहीं है

दर्शन का आधार तर्क होता है, परन्तु यह विडम्बना ही है कि अनेक भारतीय दार्शनिक और उनकी कृतियाँ अब तक भी ऐसी अनेक अवधारणाएँ ढोती चली आ रही हैं जिनका आधार तर्क नहीं, मात्र अन्धानुकरण है। जैन दर्शन को नास्तिक मानना और कहना भी एक ऐसी ही तर्कहीन अवधारणा है। यहाँ उसके निराकरण हेतु कतिपय महत्वपूर्ण अभिमतों का संग्रह किया जा रहा है—

1. डॉ. मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं कि— “भारतीय दर्शन के विषय में एक परम्परागत मिथ्या भ्रम का उल्लेख करना भी हमें आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ समय से लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की आस्तिक और नास्तिक दो शाखाएँ हैं। तथाकथित वैदिक दर्शनों को आस्तिक दर्शन और जैन-बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों को ‘नास्तिक दर्शन’ कहा जाता है। वस्तुतः यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द ‘अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः’ (4/4/60) इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक की सत्ता को मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध दोनों दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द-प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तुतत्त्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।”

2. आधुनिक हिन्दी-कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखते हैं कि—

“जैन को नास्तिक भाखैं कौन?

परम धरम जो दया अहिंसा सोई आचरत जौन।

सत कर्मन को फल नित मानत अति विवेक के भौन।

तिनके मतहि विरुद्ध कहत जो महामूढ है तौन।”²

अर्थ— जैन को नास्तिक कौन कहता है? जो जैन दया, अहिंसामयी परमधर्म का आचरण करते हैं, जो सदा ही विवेक के स्थान रहे हैं तथा सदैव सत्कर्मों के फल

1. जैन दर्शन (महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य), प्राक्कथन, पृष्ठ 15

2. जैन कौतूहल, पद 7 (भारतेन्दु समग्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृष्ठ 38)

को मानते हैं— ऐसे जैनियों के श्रेष्ठ धर्म को जो लोग नास्तिक कहते हैं, वे महामूढ़ हैं।

3. आधुनिक हिन्दी-कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं कि— “नास्तिक सिर्फ चार्वाक दर्शन ठहरता है तथा बौद्ध दर्शन का केवल वह सम्प्रदाय, जो आत्मा का अस्तित्व नहीं मानता। हिन्दुओं के अन्य सभी दर्शन जिनमें जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन भी सम्मिलित हैं, आत्मा को मानते हैं, आत्मा के आवागमन को मानते हैं, मोक्ष यानी आवागमन से छुटकारे के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं और पूरे बल के साथ यह भी मानते हैं कि इस मोक्ष को प्राप्त करने के उपाय भी हैं। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि जैन दर्शन को हम नास्तिक क्यों कहें? जैन दर्शन उतना ही आस्तिक या नास्तिक है, जितना हिन्दुओं का कोई भी दर्शन।”³

4. डॉ. परिपूर्णानन्द वर्मा लिखते हैं कि— “जैन धर्म नास्तिक नहीं है। जीव की सत्ता में विश्वास करने वाला नास्तिक हो नहीं सकता। झगड़ा इतना ही है कि एक ही आत्मा सब में व्याप्त है या सब आत्मा अलग-अलग हैं?”⁴

5. डॉ. सम्पूर्णानन्द लिखते हैं कि— “जैन दर्शन वस्तु को सत्य मानता है। यह बात शांकर अद्वैतवाद के विरुद्ध तो है, परन्तु आस्तिक विचारधारा से असंगत नहीं है। उसका अनीश्वरवादी होना भी स्वतःनिन्द्य नहीं है। परम आस्तिक सांख्य और मीमांसा शास्त्रों के प्रवर्तकों को भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने में अनावश्यक गौरव की प्रतीति होती है। वेद को प्रमाण न मानने के कारण जैन दर्शन की गणना नास्तिक विचार-शास्त्रों में है; परन्तु कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, तप, योग, देवादि विग्रहों में विश्वास जैसी कई ऐसी बातें हैं जो थोड़े से उलटफेर के साथ भारतीय आस्तिक दर्शनों तथा जैन और बौद्ध दर्शनों की समान रूप से सम्पत्ति हैं।”

6. डॉ. दरबारीलाल कोठिया लिखते हैं कि— “भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के रूप में भी विभाजित कर उनके कथन करने का प्रचलन है... पर इस विभाग का कोई मजबूत या सबल आधार प्राप्त नहीं है। ईश्वर को मानने और न मानने के आधार पर यदि आस्तिक और नास्तिक माने जाएँ, तो निरीश्वरवादी सांख्य और मीमांसा (कर्मकाण्ड)— दोनों दर्शन ईश्वर को स्वीकार न करने तथा ईश्वर का निषेध करके ब्रह्म को अंगीकार करने से वेदान्त दर्शन— ये तीनों नास्तिक दर्शन कहे जावेंगे तथा नास्तिक कहे जाने वाले जैन और बौद्ध ये दोनों दर्शन क्रमशः अर्हत् और बुद्ध के रूप में ईश्वर को स्वीकार करने से नास्तिक दर्शन नहीं कहे जा सकेंगे।...

वेद को 'प्रमाण' न मानना भी आस्तिक-नास्तिक का आधार नहीं है, क्योंकि

3. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 111

4. हिन्दुओं के आराध्य भगवान् महावीर : एक विशिष्ट चिन्तन (दिशाबोध पत्रिका, नवम्बर-दिसम्बर 2004, पृष्ठ 27)

इस प्रकार की मान्यता संकुचित दृष्टिकोण की द्योतक है। अन्यथा जो आगम को मानता है वह आस्तिक है और जो नहीं मानता है वह नास्तिक है— ये भी आस्तिक और नास्तिक की परिभाषाएँ बनाई जा सकती हैं; अतः आस्तिक और नास्तिक का यह आधार भी युक्त नहीं है।

पाणिनीय व्याकरण के 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (4/4/60) इस सूत्र पर काशिका और महाभाष्य लिखनेवाले टीकाकार क्रमशः कैयट तथा पतंजलि ने इसका अर्थ किया है कि जो परलोक (पुनर्जन्म-कर्मफल) को मानता है वह आस्तिक है और जो उसे नहीं मानता वह नास्तिक है। इन परिभाषाओं के आधार पर यदि आस्तिक और नास्तिक माना जाए तो जैन और बौद्ध भी आस्तिक दर्शन सिद्ध होते हैं, क्योंकि इन दोनों दर्शनों ने स्पष्टतया परलोक पुनर्जन्म (नाना योनियों में पुनः-पुनः जन्म) और उसके जनक शुभाशुभ कर्मों को स्वीकार किया है।⁵

वस्तुतः भारतीय दर्शनों का यह आस्तिक और नास्तिक विभाजन बहुत ही संकुचित प्रतीत होता है। इस प्रकार के विभाजन में हीनता और उच्चता या तिरस्कार और सम्मान का भाव प्रदर्शित होता है, जो 'अहंभाव' से प्रेरित है। अतः भारतीय दर्शनों का पूर्वोक्त वैदिक और अवैदिक दर्शन विभाग ही युक्त है। इसे दूसरे शब्दों में श्रमण और श्रमणेतर दर्शन-विभाग भी कहा जा सकता है। इन विभागों में किसी दर्शन के प्रति न असम्मान-सम्मान का भाव है, न परनिन्दा-आत्मप्रशंसा है और न संकुचित दृष्टिकोण है।⁶

7. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य लिखते हैं कि— "श्रमणधारा वैदिक परम्परा को न मानकर भी आत्मा, जड़भिन्न ज्ञानसन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदि में विश्वास रखती है, अतः पाणिनि की परिभाषा के अनुसार आस्तिक है। वेद को या ईश्वर को जगत्-कर्ता न मानने के कारण श्रमणधारा को नास्तिक कहना उचित नहीं है, क्योंकि अपनी अमुक परम्परा को न मानने के कारण यदि श्रमण नास्तिक हैं तो श्रमण-परम्परा को न मानने के कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणों से पुकारे गये हैं।"⁷

8. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं कि— "जो धर्म ईश्वर को सृष्टि का कर्ता और वेदों को ही प्रमाण मानते हैं, वे जैन धर्म की गणना नास्तिक धर्मों में करते हैं, क्योंकि जैन धर्म न तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता है और न वेदों के प्रामाण्य को ही स्वीकार करता है किन्तु जो ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता और न वेदों को प्रमाण मानता है वह नास्तिक है— नास्तिक शब्द का यह अर्थ किसी भी विचारशील शास्त्रज्ञ ने नहीं किया। बल्कि जो परलोक नहीं मानता, पुण्य-पाप नहीं मानता, नरक-

5. जैन धर्म (सिद्धान्तार्थ पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, द्वितीय संस्करण, प्राच्य श्रमण भारती मुजफ्फरनगर द्वारा प्रकाशित), प्राक्कथन, पृष्ठ 19

6. जैन न्याय की भूमिका, पृष्ठ 34-36, (जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी)

7. तत्त्वार्थवृत्ति, प्रस्तावना, पृष्ठ 78 (भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली)

स्वर्ग नहीं मानता, परमात्मा को नहीं मानता, वह नास्तिक है— नास्तिक शब्द का यही अर्थ पाया जाता है। इस अर्थ की दृष्टि से जैन धर्म घोर आस्तिक ही ठहरता है, क्योंकि वह परलोक मानता है, आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है, पुण्य-पाप और स्वर्ग-नरक मानता है तथा प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति मानता है। इन सब बातों का विवेचन पहले किया गया है। इन सब मान्यताओं के होते हुए जैनधर्म को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। जो वैदिक धर्म वाले जैन धर्म को नास्तिक कहते हैं, वे वैदिक धर्म को न मानने के कारण ही ऐसा कहते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में तो सभी धर्म परस्पर में एक-दूसरे की दृष्टि में नास्तिक ही ठहरेंगे। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जैन धर्म परम आस्तिक है।⁸

9. उपाध्याय ज्ञानसागरजी लिखते हैं— “भारतीय दर्शनों का विभाजन करते समय जैन दर्शन को नास्तिक दर्शनों की कोटि में रखा जाता है, जबकि तथ्य यह है कि जैन दर्शन आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि को स्वीकार करता है, अतः यह विशुद्ध रूप से आस्तिक दर्शन है।”⁹

10. गणिनी आर्यिका ज्ञानमती माताजी लिखती हैं— “आजकल कुछ लोग वेद के मानने वालों को आस्तिक एवं नहीं मानने वालों को नास्तिक कहते हैं और उसमें जैन को भी नास्तिक में लिया है क्योंकि जैन भी वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। जो आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि के अस्तित्व को मानते हैं वे आस्तिक एवं आत्मा आदि के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं अतः चार्वाक और शून्यवादी नास्तिक हैं, बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं।”¹⁰

8. जैनधर्म, पृष्ठ 205 (प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर से प्रकाशित)

9. न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन, अन्तर्ध्वनि, पृष्ठ V, (प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर)

10. अष्टसहस्री, भाग-1 (जम्बूद्वीप हस्तिनापुर से प्रकाशित), पुरोवाक्, पृष्ठ 18

सन्दर्भ-ग्रन्थ

- अग्नि और जीवत्वशक्ति— आचार्य विद्यानन्द, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
 अग्नि की उड़ान— ए.पी.जे. अब्दुल कलाम, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली
 अग्निपुराण— महर्षि वेदव्यास, आनन्दाश्रम, पूना (महाराष्ट्र)
 अथर्ववेद— दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1958 ई.
 अनगारधर्माभूत— पं. आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
 अप्पा सो परम्प्रा— आचार्य देवेन्द्र मुनि, तारकगुरु ग्रन्थमाला, शास्त्री सर्किल, उदयपुर, 1989 ई.
 अर्थसंग्रह— लौगाक्षिभास्कर, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी, 2005 ई.
 अष्टपाहुड— आचार्य कुन्दकुन्द, दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़
 अष्टसहस्री— आचार्य विद्यानन्दि, अनुवाद—आर्यिका ज्ञानमती, दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वीर नि. सं. 2515
 अहिंसा एवं पर्यावरण-संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर— प्रो. राजाराम जैन, श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, डब्ल्यू-11/4 लेन, 196 सैनिक फार्म, नई दिल्ली, 2007 ई.
 आचारांग— सम्पादक मुनिजम्बूविजय, जैन आगम ग्रन्थमाला, मुम्बई, 1977
 आत्मकीर्तन— मनोहरलाल वर्णी 'सहजानन्द', मेरठ ग्रन्थमाला
 आत्मख्याति (समयसार-टीका)— आचार्य अमृतचन्द्र, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1986 ई.
 आत्मतत्त्वविवेक— उदयनाचार्य, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1992
 आत्ममीमांसा— दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस
 आत्मसिद्धि— श्रीमद् रायचन्द्र, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात
 आत्मा ही है शरण— डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल, टोडरमल स्मारक, जयपुर,
 आप्तपरीक्षा— आचार्य विद्यानन्दि, सम्पादक दरबारीलाल कोठिया, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, जैनमन्दिर, गुलाबवाटिका, लोनी, दिल्ली, 1982 ई.
 आप्तमीमांसा— आचार्य समन्तभद्र, गणेश वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी, वीर-निर्वाण सं. 2501
 आस्था और अन्वेषण— सुरेश जैन, ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल, 1999
 इष्टोपदेश— आचार्य पूज्यपाद, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात
 ईश्वर-मीमांसा— क्षुल्लक निजानन्द, दि. जैन संघ, चौरासी, मथुरा, 1950

- उत्तराध्ययन— सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाङ्गून, 2006
- उपनिषद्संग्रह— प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1984 ई.
- ऋग्वेद (सायणभाष्य-सहित)— तिलक विद्यापीठ, पूना, 1936 ई.
- कठोपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर
- कबीर बीजक— बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा— श्रीमद्राजचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास, गुजरात, 1997
- कूर्मपुराण— महर्षि वेदव्यास, वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 1930
- क्षत्रचूडामणि— वादीभसिंहसूरि, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, दिल्ली
- गोम्मटसार (जीवकाण्ड)— आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात
- चतुर-चितारणी— पं. दौलतराम कासलीवाल, सम्पादक वीरसागर जैन, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, जयपुर, 2001 ई.
- चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा— डॉ. सर्वानन्द पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1990 ई.
- छहढाला— कविवर दौलतराम, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, 1994
- छान्दोग्योपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर
- जीवन क्या है— अनिलकुमार जैन, विद्या प्रकाशन मन्दिर, नई दिल्ली, 2002
- जैन अर्हत्— प्रदीपकुमार जैन, राहुल पब्लिशिंग हाउस, wp 575, वजीरपुर, अशोक विहार, दिल्ली, 1994 ई.
- जैनदर्शन— डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी
- जैनदर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन— डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, सर्वोत्तम साहित्य संस्थान, 11/429, हिरणमगरी, उदयपुर, 2001 ई.
- जैनदर्शन में आत्म-विचार— डॉ. लालचन्द्र जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1984 ई.
- जैनधर्म— पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, 2007
- जैनधर्म में विज्ञान— नारायणलाल कछारा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
- जैनधर्म विश्वधर्म— पं. नाथूराम डोंगरीय, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर 1998 ई.
- जैनशतक— महाकवि भूधरदास, सम्पादक वीरसागर जैन, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर
- जैन न्याय की भूमिका— डॉ. दरबारीलाल कोठिया, जैन विद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, जयपुर, राजस्थान, 1995 ई.
- जैनशतक— महाकवि भूधरदास, सम्पादक वीरसागर जैन, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर
- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश— जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
- ज्ञानपीठ पूजांजलि— भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1999 ई.

- ज्ञानार्णव**— आचार्य शुभचन्द्र, राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात, 1907
- तत्त्वज्ञानतंत्रगिणी**— भट्टारक ज्ञानभूषण, टीकाकार पं. गजाधरलाल न्यायतीर्थ, कहान सत्साहित्य प्रसारक मण्डल, खण्डवा, म.प्र., 1984 ई.
- तत्त्वार्थवार्तिक**— आचार्य अकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
- तत्त्वार्थवृत्ति**— श्रुतसागरसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1999 ई.
- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**— आचार्य विद्यानन्दि, गाँधी नाथारंग जैन शास्त्रमाला, सोलापुर
- तत्त्वानुशासन**— मुनि रामसेन, श्रीमती गोदावरी जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, 2/10, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 1994 ई.
- तत्त्वार्थसूत्र**— आचार्य उमास्वामी, व्याख्या पं. फूलचन्द्र शास्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि. जैन शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी, 1991 ई.
- तर्कभाषा**— केशव मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली, 2004 ई.
- तर्कसंग्रह**— अन्नम् भट्ट, संस्कृत सीरीज, वाराणसी
- तात्पर्यवृत्ति (समयसार-टीका)**— आचार्य जयसेन, राजचन्द्र आश्रम, अगास
- तात्पर्यवृत्ति (प्रवचनसार-टीका)**— आचार्य जयसेन, राजचन्द्र आश्रम, अगास
- तैत्तिरीयोपनिषद्**— गीता प्रेस, गोरखपुर।
- दर्शन की मूल धाराएँ**— डॉ. अर्जुन मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1997 ई.
- दशाश्रुतस्कन्ध**— अनुवादक आत्माराम महाराज, जैनशास्त्रमाला, लाहौर, 1936
- दादूदयाल की बाणी (भाग-2)**— बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
- दीर्घनिकाय**— अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1933
- दौलत-विलास**— कविवर दौलतराम, सम्पादक डॉ. वीरसागर जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2001
- धर्म**— मनोहरलाल वर्णी सहजानन्द, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ, 1985 ई.
- धर्मपरीक्षा**— आचार्य अमितगति, जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1908
- धर्म-विलास**— ध्यानतराय, जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1914
- धवला**— आचार्य वीरसेन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
- नारदपुराण**— महर्षि वेदव्यास, वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 1920 ई.
- नियमसार**— आचार्य कुन्दकुन्द, दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर, सोनगढ़, 1991
- निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य**— डॉ. याकूब मसीह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, द्वितीय संस्करण 1986 ई.
- न्यायकुमुदचन्द्र**— आचार्य प्रभाचन्द्र, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
- न्यायकुमुदचन्द्र-परिशीलन**— प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्राच्यश्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र., 2001 ई.

- न्यायकुसुमांजलि— चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1957
- न्यायकोश— संस्कृत सीरीज, बम्बई, 1893
- न्यायसूत्र— महर्षि गौतम, श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1964
- पंचास्तिकाय— आचार्य कुन्दकुन्द, टोडरमल स्मारक, जयपुर
- पद्मनन्दि-पंचविंशतिका— हिन्दी टीका— पं. गजाधरलाल न्यायतीर्थ, दि. जैन स्वाध्याय मंडल ट्रस्ट, नागपुर, 1996 ई.
- परमात्मप्रकाश— मुनिराज योगीन्दु, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1998
- परमात्मा बनने का विज्ञान : जैनधर्म— बाबूलाल जैन, गोदावरी देवी जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, 2/10 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
- परमानन्द-स्तोत्र (वृहज्जिनवाणी-संग्रह)— सम्पादक डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, अखिल भारतीय जैन युवा फ़ेडरेशन, बापूनगर, जयपुर
- पाण्डवपुराण— आचार्य शुभचन्द्र, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1953
- पुनर्जन्म का सिद्धान्त— एस. आर. व्यास, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
- पुरुदेवचम्पू— महाकवि अर्हदास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय— आचार्य अमृतचन्द्र, राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1998
- प्रमाणवार्तिक— धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943 ई.
- प्रमेयकमलमार्तण्ड— आचार्य प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
- प्रमेयरत्नमाला— आचार्य लघु अनन्तवीर्य, संपादक हीरालाल जैन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, वि. सं. 2020
- प्रवचनसार— आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात।
- प्रशस्तपादभाष्य— सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997 ई.
- बारह भावना— देखो 'ज्ञानपीठ पूजांजलि' में।
- बुद्धचरित— अश्वघोष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 2004
- बौद्धदर्शन-मीमांसा— बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978
- ब्रह्मसूत्र— (शंकरभाष्य सहित), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1994
- ब्रह्माण्डपुराण— महर्षि वेदव्यास, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, 1906 ई.
- भक्तामर स्तोत्र— देखो 'ज्ञानपीठ पूजांजलि' में।
- भगवद्गीता— (शंकर भाष्य सहित) समता बुक्स, मद्रास, 1982 ई.
- भरत और भारत— प्रेमसागर जैन, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, 2006
- भरतेश-वैभव— महाकवि रत्नाकर, धर्मवीर जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1972
- भारत और मानव संस्कृति— विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, प्रकाशन-विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली
- भारतीय दर्शन— आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा पब्लिशर्स, गोकुलभवन, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी, 2000 ई.

- भारतीय दर्शन— डॉ. राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
- भारतीय दर्शन— वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983
- भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन— चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1990 ई.
- भारतीय दर्शन परिभाषा कोश— दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, शक्ति नगर, दिल्ली, 1993 ई.
- भावपाहुड— देखो 'अष्टपाहुड' में।
- मज्झिमनिकाय— राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1964 ई.
- मनुस्मृति— गोपाल शास्त्री नेने, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1982 ई.
- मलूकबाणी— बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
- महापुराण— आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
- महाभारत— भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
- महावीर : युग और जीवन-दर्शन— डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी कॉलोनी, नई दिल्ली, 1998 ई.
- महावीराष्टक स्तोत्र— देखो 'ज्ञानपीठ पूजांजलि' में।
- मार्कण्डेय पुराण— वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई
- मिलिंद-पञ्चो (मिलिन्द-प्रश्न)— मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
- मीमांसाश्लोकवार्तिक— कुमारिल भट्ट, मद्रास विश्वविद्यालय, 1940
- मुण्डकोपनिषद्— आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली-9, पूना, 1999 ई.
- मैं कौन हूँ— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
- मोक्षमार्गप्रकाशक— पं. टोडरमल, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर
- यजुर्वेद— श्रीमती परोपकारिणी सभा, अजमेर, 1950 ई.
- यशस्तिलकचम्पू (दो खण्डों में)— सोमदेवसूरि, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, गुलाब वाटिका, लोनी, दिल्ली, 1990 ई.
- याज्ञवल्क्यस्मृति— शशिनाथ झा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2002 ई.
- यारी साहब की रत्नावली— बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
- योगदर्शन में ईश्वर-प्रणिधान की व्याख्या— अनुपमा सेठ, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1994 ई.
- योगसार— मुनिराज योगीन्दु, सम्पादक डॉ. वीरसागर जैन, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर, 2005 ई.
- योगसार-प्राभृत— आचार्य अमितगति, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003 ई.
- योगसूत्र— महर्षि पतंजलि, टीकाषट्क समन्वित, सम्पादक हुंडिराज शास्त्री, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1982 ई.
- रत्नकरण्डश्रावकाचार— आचार्य समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
- रामचरितमानस— गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर

- रायपसेणीय सुत्त— गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, 1939 ई.
- लिंगपुराण— महर्षि वेदव्यास, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1885 ई.
- वराहपुराण— महर्षि वेदव्यास, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, 1984
- वसुदेवहिण्डी (प्रथम खण्ड)— संघदास गणी, गुजरात साहित्य अकादमी, गाँधीनगर, गुजरात, 1989 ई.
- वायुपुराण— महर्षि वेदव्यास, प्रकाशक हरिनारायण आपटे, पूना, 1905 ई.
- विश्वधर्म की रूपरेखा— आचार्य विद्यानन्द मुनि, प्रकाशक - चन्दादेवी पत्नी श्री नाथूराम जैन, 11, दरियागंज, दिल्ली, 1966 ई.
- विष्णुपुराण— महर्षि वेदव्यास, परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला, दिल्ली, 1986 ई.
- वीतराग-विज्ञान-प्रशिक्षण-निर्देशिका— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर
- बृहद्द्रव्यसंग्रह— आचार्य नेमिचन्द्र, टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात।
- बृहदारण्यकोपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर
- वैराग्यशतक— भर्तृहरि, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1993 ई.
- वैशेषिकसूत्र— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2007 ई.
- शिवपुराण— खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई
- श्रीमद्भागवत— महर्षि वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2010
- श्वेताश्वतरोपनिषद्— शांकरभाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं. 2005
- षड्दर्शनसमुच्चय— हरिभद्रसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006 ई.
- संस्कृति के चार अध्याय— रामधारीसिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002 ई.
- सच्चे सुख का मार्ग— अज्ञात लेखक, श्रीमती कमला जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, V-38, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-16, 2006 ई.
- समयसार— आचार्य कुन्दकुन्द, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, 1994 ई.
- समयसार-कलश— आचार्य अमृतचन्द्र, टोडरमल स्मारक, जयपुर
- समयसार नाटक— कविवर बनारसीदास, टोडरमल स्मारक, जयपुर
- समयसार-वचनिका— जयचन्द्र छाबड़ा, तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़, 2007
- समाधितन्त्र— आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत-टीका आचार्य प्रभाचन्द्र, वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली, 1965 ई.
- सर्वदर्शनसंग्रह— माधवाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
- सर्वार्थसिद्धि— आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1998 ई.
- सर्वोदयी जैनधर्म और उसकी मौलिकता पर लोकमत— ज्ञानचन्द खिन्दूका, दि. जैन महासमिति राजस्थान अंचल, जयपुर, 2001 ई.

- सांख्यकारिका— ईश्वरकृष्ण, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1993 ई.
 सांख्यतत्त्वकौमुदी— वाचस्पति मिश्र, प्रेम प्रकाशन, अहमदाबाद, 1999
 सांख्य-दर्शन— मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1989 ई.
 सांख्यसूत्र— कपिल मुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, वि.सं. 2022
 सुन्दर-ग्रन्थावली— सम्पादक रमेशचन्द्र मिश्र, किताबघर, नई दिल्ली, 1992
 सूत्रकृतांग— जवाहरलाल महाराज, राजकोट, वि.सं. 1993
 सूरसागर— सूरदास, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1969 ई.
 सौन्दरनन्द— महाकवि अश्वघोष, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1992 ई.
 स्कन्दपुराण— खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई
 स्याद्वाद— पं. जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, जैन समाज, सहारनपुर, 1998
 स्याद्वादमंजरी— मल्लिषेणसूरि, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1992 ई.
 स्याद्वादसिद्धि— वादीभसिंहसूरि, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, 1950
 हिन्दी विश्वकोश— नगेन्द्रनाथ वसु, बी.आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन, दिल्ली
 हिन्दुस्तान की कहानी— जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
 हिन्दू धर्म— स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2005 ई.
 स्वयम्भू-स्तोत्र— आचार्य समन्तभद्र, गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी
 Key of Knowledge— Champat Rai Jain, Today and Tomorrow's
 Printers and Publishers, Karol Bag, New Delhi, 1928
 Structure and fuction of the Soul— S.C. Jain, Bharatiya Jnanpith,
 New Delhi, 1978
 Jainism in Bihar— Shri Prakash, Raj Bhavan, Madras, 1956

पत्र-पत्रिकाएँ :

- अभिषेक— सहस्राब्दी समारोह स्मारिका, दि. जैन अतिशय श्रेत्र, श्रीमहावीरजी
 दिशाबोध— मासिक, डॉ. चिरंजीलाल बगड़ा, 46 स्ट्रान्ड रोड, कोलकाता
 नवभारत टाइम्स— हिन्दी दैनिक पत्र, 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली
 प्राकृत-विद्या— त्रैमासिक, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली-67
 मनीषी (पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ विशेषांक)— वार्षिक, श्री दिगम्बर जैन आचार्य
 संस्कृत महाविद्यालय, साँगानेर, जयपुर
 वीतराग-विज्ञान— मासिक, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
 Jain Journal— (Quarterly) S.R. Banarjee, Jain Bhavan, Kolkata



प्रो. वीरसागर जैन

जन्म : राजस्थान के ग्राम गुढ़ाचन्द्रजी (करौली) में।

शिक्षा : जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य, एम.ए. (हिन्दी), पीएच.डी.।

कृतित्व : 'दौलत विलास', 'श्रीपालचरित', 'भारतीय दर्शन में आत्मा एवं परमात्मा', 'न्याय-मन्दिर', 'प्रमुख जैन ग्रन्थों का परिचय', 'तत्त्वार्थसूत्र प्रदीपिका' आदि लगभग दो दर्जन पुस्तकें। इनके अतिरिक्त लगभग 60 शोधपत्र।

सम्मान/पुरस्कार : 'महावीर', 'आचार्य उमास्वामी', 'ऋषभदेव' एवं 'गुरु गोपालदास बैर्या' आदि पुरस्कारों से सम्मानित।

सम्पर्क : जैनदर्शन विभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ

कुतुब इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नयी दिल्ली-110 016

फोन : 011-26177207, 09868888607

ई-मेल : veersagarjain@gmail.com